भारती–भवानीप्रसाद मिश्र–शकुन्त माथुर–हरिनारायण व्यास–शमशेर बहादुर सिंह–नरेश मेहता
सम्पादक
अज्ञेय
दूसरा सप्तक
माथुर–हरिनारायण व्यास–शमशेर बहादुर सिंह–नरेश मेहता–रघुवीर सहाय–धर्मवीर भारती

सात कवियों का यह संकलन अज्ञेय द्वारा सम्पादित १९४९ में हुआ। नयी दिल्ली से प्रकाशित १९५१ में और उस के बाद अब १९७० में उस का यह दूसरा संस्करण अपने साथ एक ख़ास तरह की ताज़गी ले कर आया है। कविताएँ वही हैं, वक्तव्य वही पर १९५१ और १९७० के बीच इस संग्रह के कवियों ने लम्बी यात्राएँ कर डाली हैं जिन में मान लेना चाहिए ये कविताएँ संबल रही होंगी।

यह संग्रह ऐतिहासिक है। एक अर्थ में तार सप्तक से भी अधिक क्योंकि जहाँ तार सप्तक के अकेले कवियों का अपने परवर्तियों पर प्रभाव अलग-अलग देखा जा सका था, वहाँ दूसरा सप्तक के कवियों ने समसामयिक काव्य की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व किया और उन का प्रभाव अपने समय के काव्य में

[शेष दूसरे फ़्लैप पर]
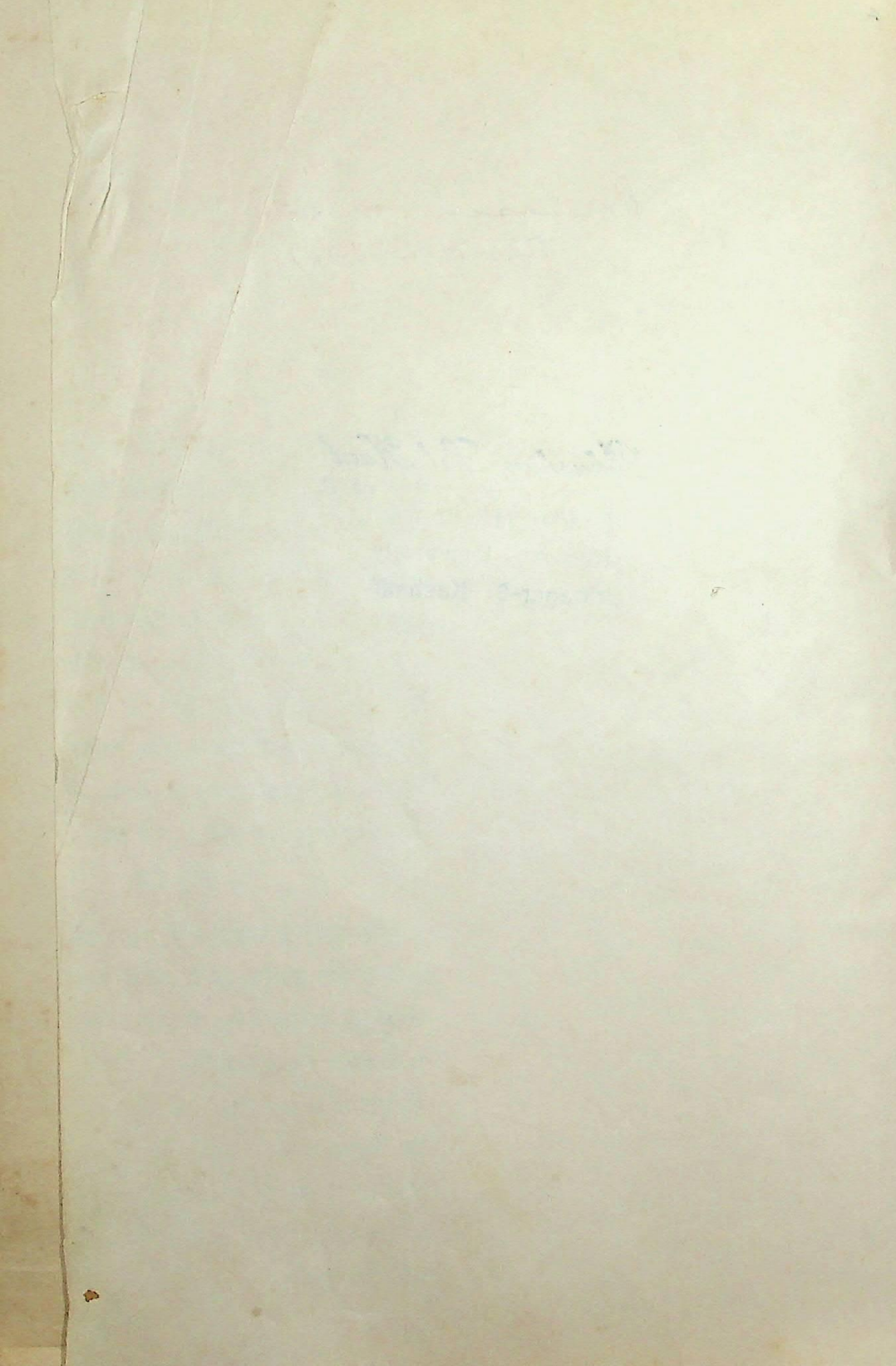
दूसरा सप्तक

भारतीय
ज्ञानपीठ
प्रकाशन

● तार सप्तक

गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा, 'अज्ञेय'।

● दूसरा सप्तक

भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्त माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेरबहादुर सिंह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती।

● तीसरा सप्तक

प्रयागनारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना।

दूसरा सप्तक

संकलनकर्त्ता एवं सम्पादक

'अज्ञेय'

भारतीय
ज्ञानपीठ
प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक–२८१
सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series : Title No. 281
DOOSARA SAPTAK
(Poems)
Edited & Compiled by
'Ajneya'
Bharatiya Jnanpith Publication
Second Edition 1970
Price Rs. 8.00

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता–२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५
विक्रय कार्यालय
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–६
द्वितीय संस्करण १९७०
मूल्य ८.००

सन्मति मुद्रणालय,
वाराणसी–५

भूमिका

'तार सप्तक' का प्रकाशन जब हुआ, तब मन में यह विचार ज़रूर उठा था कि इसी प्रकार की पुस्तकों का एक अनुक्रम प्रकाशित किया जा सकता है, जिसमें क्रमशः नये आने वाले प्रतिभाशाली कवियों की कविताएँ संगृहीत की जाती रहें—ऐसे कवियों की जिन में इतनी प्रतिभा तो है कि उन की संगृहीत रचनाएँ प्रकाशित हों, लेकिन जो इतने प्रतिष्ठापित नहीं हुए हैं कि कोई प्रकाशक सहसा उन के अलग-अलग संग्रह निकाल दे। 'तार सप्तक' का आयोजन भी मूलतः इसी भावना से हुआ था, यद्यपि इस में साथ ही यह आदर्शवादी आरोप भी था कि संग्रह का प्रकाशन सहकार-मूलक हो। (जिन पाठकों ने यह संग्रह देखा है वे शायद स्मरण करेंगे कि इस आदर्श की रक्षा तब भी नहीं हो सकी थी; 'दूसरे सप्तक' में तो उसे निबाहने का यत्न ही व्यर्थ मान लिया गया था।)

तो 'तार सप्तक' के कवि ऐसे कवि थे, जिन के बारे में कम से कम सम्पादक की यह धारणा थी कि उनमें 'कुछ' है और वे पाठक के सामने लाये जाने के पात्र हैं; यद्यपि वे हैं 'नये' ही, केवल 'कवियशःप्रार्थी' ही और इस लिए काव्यक्षेत्र के अन्वेषी ही। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन में से सभी अनन्तर काव्य-क्षेत्र में आगे बढ़े—कम से कम एक ने तो न केवल

ऐलान कर के कविता छोड़ दी बल्कि क्रमशः कविता के ऐसे आलोचक हो गये कि उसे साहित्य-क्षेत्र से ही खदेड़ देने पर तुल गये; और बाक़ी में से दो-एक और भी कविता से उपराम-से हैं। फिर भी, हम आज भी समझते हैं कि 'तार सप्तक' का प्रकाशन—प्रकाशन ही नहीं, उस का आयोजन, संकलन, सम्पादन—न केवल समयोचित और उपयोगी था बल्कि उसे हिन्दी काव्य-जगत् की एक महत्त्वपूर्ण घटना भी कहा जा सकता है। और आलोचकों-द्वारा उसकी जितनी चर्चा हुई है उसे 'सप्तक' के प्रभाव का सूचक मान लेना कदाचित् अनुचित न होगा।

'दूसरा सप्तक' में फिर सात नये कवियों की संगृहीत रचनाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं। सात में से कोई भी हिन्दी-जगत् का अपरिचित हो, ऐसा नहीं है, लेकिन किसी का कोई स्वतन्त्र कविता-संग्रह नहीं छपा है, अतः यह कहा जा सकता है कि प्रकाशित कविता-ग्रन्थ के जगत् में ये कवि इसी पुस्तक के साथ प्रवेश कर रहे हैं। और हमारा विश्वास है कि हिन्दी में सम्प्रति जो काव्य-संग्रह छपते हैं; उन में कम ऐसे होंगे जिन में अच्छी कविताओं की इतनी बड़ी संख्या एकत्र मिले जितनी 'दूसरे सप्तक' में पायी जायेगी।

क्या ये रचनाएँ प्रयोगवादी हैं? क्या ये कवि किसी एक दल के हैं, किसी मतवाद—राजनीतिक या साहित्यिक—के पोषक हैं? 'प्रयोगवाद' नाम के नये मतवाद के प्रवर्तन का दायित्व क्योंकि अनचाहे और अकारण ही हमारे मत्थे मढ़ दिया गया है, इस लिए हमारा इन प्रश्नों के उत्तर में कुछ कहना आवश्यक है, और नहीं तो इसी लिए कि 'दूसरा सप्तक' के संगृहीत कवि आरम्भ से ही किसी पूर्वग्रह के शिकार न बनें, अपने कृतित्व के आधार पर ही परखे जायें।

प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने-आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है; कविता भी अपने-आप में इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें 'प्रयोगवादी' कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें 'कवितावादी' कहना। क्योंकि यह आग्रह तो हमारा है कि जिस प्रकार कविता-रूपी माध्यम को बरतते हुए आत्माभिव्यक्ति चाहने वाले कवि को अधिकार है कि उस माध्यम का अपनी आवश्यकता के अनुरूप श्रेष्ठ उपयोग करे, उसी प्रकार आत्म-सत्य के अन्वेषी कवि को, अन्वेषण के प्रयोग-रूपी माध्यम का उपयोग करते समय उस माध्यम की विशेषताओं को परखने का भी अधिकार है। इतना ही नहीं, बिना माध्यम की विशेषता, उस की शक्ति, और उस की सीमा को परखे और आत्मसात् किये उस माध्यम का श्रेष्ठ उपयोग हो ही नहीं सकता। जो लोग प्रयोग की निन्दा करने के लिए परम्परा की दुहाई देते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि परम्परा, कम से कम कवि के

लिए, कोई ऐसी पोटली बाँध कर अलग रखी हुई चीज़ नहीं है जिसे वह उठा कर सिर पर लाद ले और चल निकले। (कुछ आलोचकों के लिए भले ही वैसा हो।) परम्परा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं है जब तक वह उसे ठोक-बजा कर, तोड़-मरोड़ कर देख कर आत्मसात् नहीं कर लेता; जब तक वह एक इतना गहरा संस्कार नहीं बन जाती कि उसका चेष्टापूर्वक ध्यान रख कर उस का निर्वाह करना अनावश्यक न हो जाये। अगर कवि की आत्माभिव्यक्ति एक संस्कार-विशेष के वेष्टन में ही सहज सामने आती है, तभी वह संस्कार देने वाली परम्परा कवि की परम्परा है, नहीं तो—वह इतिहास है, शास्त्र है, ज्ञान-भण्डार है जिस से अपरिचित भी रहा जा सकता है। अपरिचित ही रहा जाये, ऐसा आग्रह हमारा नहीं है—हम पर तो बौद्धिकता का आरोप लगाया जाता है!—पर इस से अपरिचित रह कर भी परम्परा से अवगत हुआ जा सकता है और कविता की जा सकती है।

तो प्रयोग अपने-आप में इष्ट नहीं है, वह साधन है। और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उस के साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग-द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है। वस्तु और शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग फलप्रद होता है। यह इतनी सरल और सीधी बात है कि इस से इनकार करना चाहना कोरा दुराग्रह है; ऐसे दुराग्रही अनेक हैं और उस वर्ग में हैं जो साहित्य-शिक्षण का दायित्व लिये हैं, इस से हमें आतंकित न होना चाहिए। जिस वर्ग की घोषित नीति यह है कि उन के द्वारा ग्राह्य होने के लिए कोई वस्तु या रचना तीन सौ वर्ष पुरानी तो होनी ही चाहिए, उस वर्ग से आज की कविता पर बहस कर के क्या लाभ? उस से तो तीन सौ वर्ष बाद बात करना अलम् होगा—और तब कदाचित् वह अनावश्यक होगा क्योंकि आज का प्रयोग तब की परम्परा हो गयी होगी—उन की परम्परा! छायावाद जब एक जीवित अभिव्यक्ति था, तब वह जिन्हें अग्राह्य था, आज वे उस के समर्थक और प्रतिपादक हैं जब वह मृत हो चुका; आज वे उसे उन से बचाना चाहते हैं जिन में आज का जीवित सत्य अभिव्यक्ति खोज रहा है, भले ही अटपटे शब्दों में।

प्रयोग का हमारा कोई वाद नहीं है, इस को और भी स्पष्ट करने के लिए एक बात हम और कहें। प्रयोग निरन्तर होते आये हैं, और प्रयोगों के द्वारा ही कविता या कोई भी कला, कोई भी रचनात्मक कार्य, आगे बढ़ सका है। जो कहता है कि मैं ने जीवन-भर कोई प्रयोग नहीं किया, वह वास्तव में यही कहता

है कि मैं ने जीवन-भर कोई रचनात्मक कार्य करना नहीं चाहा; ऐसा व्यक्ति अगर सच कहता है तो यही पाया जायेगा कि उस की 'कविता' कविता नहीं है; उस में रचनात्मकता नहीं है, वह कला नहीं, शिल्प है, हस्तलाघव है। जो उसी को कविता मानना चाहते हैं, उन से हमारा झगड़ा नहीं है। झगड़ा हो ही नहीं सकता। क्योंकि हमारी भाषाएँ भिन्न हैं, और झगड़े के लिए भी साधारणीकरण अनिवार्य है! लेकिन इस आग्रह पर स्थिर रहते हुए भी हमें यह भी कहना चाहिए कि केवल प्रयोगशीलता ही किसी रचना को काव्य नहीं बना देती। हमारे प्रयोग का पाठक या सहृदय के लिए कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व उस सत्य का है जो प्रयोग-द्वारा हमें प्राप्त हो। 'हम ने सैकड़ों प्रयोग किये हैं' यह दावा ले कर हम पाठक के सामने नहीं जा सकते, जब तक हम यह न कह सकते हों कि 'देखिए, हम ने प्रयोग-द्वारा यह पाया है।' प्रयोगों का महत्त्व कर्ता के लिए चाहे जितना हो, सत्य की खोज, लगन, उस में चाहे जितनी उत्कट हो, सहृदय के निकट वह सब अप्रासंगिक है। पारखी मोती परखता है। ग़ोताखोर के असफल उद्योग नहीं। ग़ोताखोर का परिश्रम या प्रयोग अगर प्रासंगिक हो सकता है तो मोती को सामने रख कर ही—'इस मोती को पाने में इतना परिश्रम लगा'—बिना मोती पाये उस का कोई महत्त्व नहीं है।

इस प्रकार 'प्रयोग' का 'वाद' और भी बेमानी हो जाता है। जो सत्य की शोध में प्रयोग करता है वह खूब जानता है कि उस के प्रयोग उस के निकट जीवन-मरण का ही प्रश्न क्यों न हो, दूसरों के लिए उन का कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व होगा शोध के परिणाम का। और वह यह भी जानता है कि ऐसा ही ठीक है। स्वयं वह भी उस सत्य को अधिक महत्त्व देता है, नहीं तो उस शोध में इतना संलग्न न होता।

हम समझते हैं कि इस भूमिका के बाद उन आक्षेपों का उत्तर देना अनावश्यक हो जाता है जो हमें 'प्रयोगवादी' कह कर हम पर किये गये हैं। कुछ आक्षेपों को पढ़ कर तो बड़ा क्लेश होता है, इस लिए नहीं कि उन में कुछ तत्त्व है, इस लिए कि उन में तर्क-परिपाटी की ऐसी अद्भुत विकृति दीखती है, जो आलोचक से अपेक्षित नहीं होती। आलोचक में पूर्वग्रह हो सकता है; पर कम से कम तर्क-पद्धति का ज्ञान उसे होगा, और उसे वह विकृत नहीं करेगा ऐसी आशा उस से अवश्य की जाती है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का 'प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक निबन्ध तर्क-विकृति का आश्चर्यजनक उदाहरण है। इस प्रकार के आक्षेपों का उत्तर देना एक निष्फल प्रयोग होगा; और हम कह चुके कि निष्फल प्रयोगों का कोई सार्वजनिक महत्त्व नहीं है। लेकिन साधारणीकरण के प्रश्न पर कुछ

विचार कर लेना कदाचित् उचित होगा।

'तार सप्तक' के कवियों पर यह आक्षेप किया गया कि वे साधारणीकरण का सिद्धान्त नहीं मानते। यह दोहरा अन्याय है। क्योंकि वे न केवल इस सिद्धान्त को मानते हैं बल्कि इसी से प्रयोगों की आवश्यकता भी सिद्ध करते हैं। यह मानना होगा कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारी अनुभूतियों का क्षेत्र भी विकसित होता गया है और अनुभूतियों को व्यक्त करने के हमारे उपकरण भी विकसित होते गये हैं। यह कहा जा सकता है कि हमारे मूल राग-विराग नहीं बदले—प्रेम अब भी प्रेम है और घृणा अब भी घृणा, यह साधारणतया स्वीकार किया जा सकता है। पर यह भी ध्यान में रखना होगा कि राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ बदल गयी हैं; और कवि का क्षेत्र रागात्मक सम्बन्धों का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन का कवि-कर्म पर बहुत गहरा असर पड़ा है। निरे 'तथ्य' और 'सत्य' में—या कह लीजिए 'वस्तु-सत्य' और 'व्यक्ति-सत्य' में—यह भेद है कि 'सत्य' वह 'तथ्य' है जिस के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध है; बिना इस सम्बन्ध के वह एक बाह्य वास्तविकता है जो तद्वत् काव्य में स्थान नहीं पा सकती। लेकिन जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है—वैसे-वैसे हमारे उस से रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं—और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है। कहना होगा कि जो आलोचक इस परिवर्तन को नहीं समझ पा रहे हैं वे उस वास्तविकता से टूट गये हैं जो आज की वास्तविकता है। उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने में असमर्थ वे उसे केवल बाह्य वास्तविकता मानते हैं जब कि हम उस से वैसा सम्बन्ध स्थापित कर के उसे आन्तरिक सत्य बना लेते हैं। और इस विपर्यय से साधारणीकरण की नयी समस्याएँ आरम्भ होती हैं। प्राचीन काल में, जब ज्ञान का क्षेत्र सीमित था और अधिक संहत था, जब कवि, वैज्ञानिक, साहित्यिक आदि अलग-अलग बिल्ले अनावश्यक थे और जो पठित या शिक्षित था, सभी ज्ञानों का पारंगत नहीं तो परिचित था ही, साधारणीकरण की समस्या दूसरे प्रकार की थी। तब भाषा का केवल एक मुहावरा था। या कह लीजिए कि शिक्षित वर्ग का एक मुहावरा था, जन का एक और। एक संस्कृत था, एक प्राकृत। लेकिन आज क्या वह स्थिति है? विशेष ज्ञानों के इस युग में भाषा एक रहते हुए भी उसके मुहावरे अनेक हो गये हैं। भाषा आज भी प्रेषण का माध्यम है; यह कोई नहीं कहता कि उस ने अपनी सार्वजनिकता की प्रवृत्ति छोड़ दी है या छोड़ दे। लेकिन वह अब प्रवृत्ति है, तथ्य नहीं। ऐसी कोई भाषा नहीं है जो सब समझते हों, सब बोलते हों। अँगरेज़ी है, अँगरेज़ी के बड़े-बड़े

IMP.

कोश हैं जो शब्दों के सर्वसम्मत अर्थ देते हैं, पर गणितज्ञ की अँगरेज़ी दूसरी है, अर्थशास्त्री की दूसरी और उपन्यासकार की दूसरी। ऐसी स्थिति में जो कवि एक क्षेत्र का सीमित सत्य (तथ्य नहीं, सत्य : अर्थात् उस सीमित क्षेत्र में जिस तथ्य से रागात्मक सम्बन्ध है वह) उसी क्षेत्र में नहीं, उस से बाहर अभिव्यक्त करना चाहता है, उस के सामने बड़ी समस्या है। या तो वह यह प्रयत्न ही छोड़ दे; सीमित सत्य को सीमित क्षेत्र में सीमित मुहावरे के माध्यम से अभिव्यक्त करे—यानी साधारणीकरण तो करे पर साधारण का क्षेत्र संकुचित कर दे—अर्थात् एक अन्तर्विरोध का आश्रय ले; या फिर वह बृहत्तर क्षेत्र तक पहुँचने का आग्रह न छोड़े और इस लिए क्षेत्र के मुहावरे से बँधा न रह कर उस से बाहर जा कर राह खोजने की जोखिम उठाये। इस प्रकार वह साधारणीकरण के लिए ही एक संकुचित क्षेत्र का साधारण मुहावरा छोड़ने को बाध्य होगा—अर्थात् एक-दूसरे अन्तर्विरोध की शरण लेगा! यदि यह निरूपण ठीक है, तो प्रश्न इतना ही है कि दोनों अन्तर्विरोधों में से कौन-सा अधिक ग्राह्य—या कम अग्राह्य—है। हम इतना ही कहेंगे कि जो दूसरा पथ चुनता है उसे कम से कम एक अधिक उदार, अधिक व्यापक दृष्टि से देखने या देखना चाहने का श्रेय तो मिलना चाहिए—उस के साहस को आप साहसिकता कह लीजिए पर उस की नीयत को बुरा आप कैसे कह सकते हैं?

ज़रा भाषा के मूल प्रश्न पर—शब्द और उस के अर्थ के सम्बन्ध पर—ध्यान दीजिए। शब्द में अर्थ कहाँ से आता है, क्यों और कैसे बदलता है, अधिक या कम व्याप्ति पाता है? शब्दार्थ—विज्ञान का विवेचन यहाँ अनावश्यक है; एक अत्यन्त छोटा उदाहण लिया जाये। हम कहते हैं 'गुलाबी', और उस से एक विशेष रंग का बोध हमें होता है। निस्सन्देह इस का अभिप्राय है गुलाब के फूल के रंग-जैसा रंग; यह उपमा उस में निहित है। आरम्भ में 'गुलाबी' शब्द से उसे उस रंग तक पहुँचने के लिए गुलाब के फूल की मध्यस्थता अनिवार्य रही होगी; उपमा के माध्यम से ही अर्थ लाभ होता रहा होगा। उस समय यह प्रयोग चामत्कारिक रहा होगा। पर अब वैसा नहीं है। अब हम शब्द से सीधे रंग तक पहुँच जाते हैं; फूल की मध्यस्थता अनावश्यक है। अब उस अर्थ का चमत्कार मर गया है, अब वह अभिधेय हो गया है। और अब इस से भी अर्थ में कोई बाधा नहीं होती कि हम जानते हैं, गुलाब कई रंगों का होता है—सफ़ेद, पीला, लाल, यहाँ तक कि लगभग काला तक। यह क्रिया भाषा में निरन्तर होती रहती है और भाषा के विकास की एक अनिवार्य क्रिया है। चमत्कार मरता रहता है और चामत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। यों कहें कि कविता की भाषा

निरन्तर गद्य की भाषा होती जाती है। इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है—वह शब्दों को निरन्तर नया संस्कार देता चलता है और वे संस्कार क्रमशः सार्वजनिक मानस में पैठ कर फिर ऐसे हो जाते हैं कि—उस रूप में—कवि के काम के नहीं रहते। 'बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।' कालिदास ने जब 'रघुवंश' के आरम्भ में कहा था :

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥"

तब इस बात को उन्होंने समझा था और इसी लिए वाक् में अर्थ की प्रतिपत्ति की प्रार्थना की थी। जो अभिधेय है, जो अर्थ वाक् में है ही, उसकी प्रतिपत्ति की प्रार्थना कवि नहीं करता! अभिधेयार्थ युक्त शब्द तो वह मिट्टी, वह कच्चा माल है जिस से वह रचना करता है; ऐसी रचना जिस के द्वारा वह अपना नया अर्थ उस में भर सके, उस में जीवन डाल सके। यही वह अर्थ-प्रतिपत्ति है जिस लिए कवि 'वागर्थाविव सम्पृक्त' पार्वती-परमेश्वर की वन्दना करता है। और इस प्रार्थना को निरा वैचित्र्य या नयेपन की खोज कह कर उड़ाना चाहना कवि-कर्म को बिलकुल न समझते हुए उस की अवहेलना करना है। जब चामत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित होता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिस से पुनः राग का संचार हो, पुनः रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। साधारणीकरण का अर्थ यही है। नहीं तो, अगर भाव भी वही जाने-पुराने हैं, रस भी, और संचारी-व्यभिचारी सब की तालिकाएँ बन चुकी हैं तो कवि के लिए नया करने को क्या रह गया है? क्या है जो कविता को आवृत्ति नहीं, सृष्टि का गौरव दे सकता है? कवि नये तथ्यों को उन के साथ नये रागात्मक सम्बन्ध जोड़ कर नये सत्यों का रूप दे, उन नये सत्यों को प्रेष्य बना कर उन का साधारणीकरण करे, यही नयी रचना है। इसे नयी कविता का कवि नहीं भूलता। साधारणीकरण का आग्रह भी उसका कम नहीं है; बल्कि यह देख कर कि आज साधारणीकरण अधिक कठिन है वह अपने कर्तव्य के प्रति अधिक सजग है और उस की पूर्ति के लिए अधिक बड़ा जोखिम उठाने को तैयार है। यह किसी हद तक ठीक है कि जहाँ कवि की संवेदनाएँ अधिक उलझी हुई हैं वहाँ ग्राहक या सहृदय में भी उन्हीं परिस्थितियों के कारण वैसा ही परिवर्तन हुआ है और इस लिए कवि को प्रेषण की कुछ सुविधा भी मिलती है। पर ऊपर ज्ञान के विशेष विभाजनों की जो बात कही गयी है उस का हल इस में नहीं है;

बल्कि वह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की समूची प्रगति और प्रवृत्ति विशेषीकरण की है, इस बात को पूरी तरह समझ कर ही यह अनुभव किया जा सकता है कि साधारणीकरण का काम कितना कठिनतर हो गया है—समूचे ज्ञान-विज्ञान की विशेषीकरण की प्रवृत्ति को उलाँघ कर, उस से ऊपर उठ कर, कवि को उस के विभाजित सत्य को समूचा देखना और दिखाना है। इस दायित्व को वह नहीं भूलता है। लेकिन यह बात उस की समझ में नहीं आती कि वह तब तक के लिए कविता ही छोड़ दे जब तक कि सारा ज्ञान फिर एक हो कर सब की पहुँच में न आ जाये—सब अलग-अलग मुहावरे फिर एक हो कर 'एक भाषा, एक मुहावरा' के नारे के अधीन न हो जायें। उसे अभी कुछ कहना है जिसे वह महत्त्वपूर्ण मानता है, इस लिए वह उसे उन के लिए कहता है जो उसे समझें, जिन्हें वह समझा सके; साधारणीकरण को उस ने छोड़ नहीं दिया है पर वह जितनों तक पहुँच सके उन तक पहुँचता रह कर और आगे जाना चाहता है, उन को छोड़ कर नहीं। असल में देखें तो वही परम्परा को साथ ले कर चलना चाहता है, क्योंकि वह कभी उसे युग से कट कर अलग होने नहीं देता, जब कि उस के विरोधी परिणामतः यह कहते हैं कि 'कल का सत्य कल सब समझते थे, आज का सत्य अगर आज सब एक साथ नहीं समझते तो हम उसे छोड़ कर कल ही का सत्य कहें'—बिना यह विचारे कि कल के उस सत्य की आज क्या प्रासंगिकता है, आज कौन उस के साथ तुष्टिकर रागात्मक सम्बन्ध जोड़ सकता है!

●

यहाँ तक हम 'तार सप्तक' और उस की उत्तेजनाप्रसूत आलोचनाओं से उलझते रहे हैं। 'दूसरा सप्तक' की भूमिका को इससे आगे जाना चाहिए। बल्कि यहाँ से उसे आरम्भ करना चाहिए, क्योंकि एक पुस्तक की सफ़ाई दूसरी पुस्तक की भूमिका में देना दोनों के साथ थोड़ा अन्याय करना है। हम यहाँ 'तार सप्तक' का उल्लेख कर के आलोचकों के तत्सम्बन्धी पूर्वग्रहों को इधर न आकृष्ट करते, यदि यह अनुभव न करते कि दोनों पुस्तकों का नाम साम्य और दोनों का एक सम्पादकत्व ही इस के लिए काफ़ी होगा। उन पूर्वग्रहों का आरोप अगर होना ही है, तो क्यों न उन का उत्तर देते चला जाये?

'दूसरा सप्तक' के कवियों में सम्पादक स्वयं एक नहीं है, इस से उस का कार्य कुछ कम कठिन हो गया है। कवियों के बारे में कुछ कहने में एक ओर हमें

संकोच कम होगा, दूसरी ओर आप भी हमारी बात को आसानी से एक ओर रख कर कविताओं पर स्वयं अपनी राय क़ायम कर सकेंगे। इन नये कवियों को भी कदाचित् 'प्रयोगवादी' कह कर उन की अवहेलना की जाये, या—जैसा कि पहले भी हुआ—अवहेलना के लिए यही पर्याप्त समझा जाये कि इन कवियों ने जो प्रयोग किये हैं वे वास्तव में नये नहीं हैं, प्रयोग नहीं हैं। ऐसा कहना इन कवियों के बारे में उतना ही उचित या उनुचित होगा जितना कि पहले 'सप्तक' के; हमारी धारणा है कि उस से भी कम उचित होगा। यद्यपि सब कवियों में भाषा का परिमार्जन और अभिव्यक्ति की सफ़ाई एक-सी नहीं है और अटपटेपन की झाँकी न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्येक में मिलेगी, तथापि सभी को ऐसी उपलब्धि हुई है जो प्रयोग को सार्थक करती है। 'प्रयोग के लिए प्रयोग' इन में से भी किसी ने नहीं किया है, पर नयी समस्याओं और नये दायित्वों का तक़ाज़ा सब ने अनुभव किया है और उस से प्रेरणा सभी को मिली है। 'दूसरा सप्तक' नये हिन्दी काव्य को निश्चित रूप से एक क़दम आगे ले जाता है और कृतित्व की दृष्टि से लगभग सूने आज के हिन्दी-क्षेत्र में आशा की नयी लौ जगाता है। ये कवि भी विरामस्थल पर नहीं पहुँचे हैं, लेकिन उनके आगे प्रशस्त पथ है और एक आलोकित क्षितिज-रेखा। गुप्त, 'प्रसाद', 'निराला,' पन्त, महादेवी, 'बच्चन', 'दिनकर'; इस सूची को हम आगे बढ़ायेंगे तो निस्सन्देह 'दूसरा सप्तक' के कुछ कवियों का उल्लेख उस में होगा। और, फुटकर कविताओं को लें तो, जैसा कि हम ऊपर भी कह आये हैं, एक जिल्द में संख्या में इतनी अच्छी कविताएँ इधर के प्रकाशनों में कम नज़र आयेंगी।

यह फिर कहना आवश्यक है कि इन सात कवियों का एकत्र होना किसी दल या गुट के संगठन का सूचक नहीं है। पहली बार हम ने कवियों के आपसी मतभेद की बात की थी; नन्ददुलारे जी ने यह परिणाम निकाला कि प्रयोगवादी कविता उन कवियों की कविता होती है जिन में आपस में मतभेद हो; अब हम कहें कि प्रस्तुत संग्रह में ऐसे भी कवि हैं जिन्हें हम ने आज तक देखा ही नहीं, तो कदाचित् उन्हें प्रयोगवाद की एक नयी परिभाषा यह भी मिल जाये कि प्रयोगवादी वे होते हैं जो एक-दूसरे का मुँह देखे बिना एक-सी कविता लिखते हैं! उन्हें यह अवसर देने में हमें संकोच नहीं, उनके तर्क पढ़ने में रोचक हैं और उत्तर की अपेक्षा नहीं रखते। लेकिन कहना हम यह चाहते हैं कि ये सात कवि भी विचार-साम्य या समान राजनीतिक या साहित्यिक मतवाद के कारण एकत्र नहीं हुए या किये गये। कुछ से हमारा व्यक्तिगत परिचय भी हुआ अवश्य, पर उनके यहाँ एकत्र होने का कारण उनकी कविता ही है। उसी की शक्ति ने हमें आकृष्ट

किया और उसी का सौन्दर्य इस 'सप्तक' की मूल प्रेरणा है। कवियों की ओर से इस संग्रह में भी उतना ही कम, उतना ही अन्यमनस्क और विलम्बित सहयोग मिला जितना पहले 'सप्तक' में मिला था; बल्कि इस बार कठिनाई कुछ अधिक थी क्योंकि इस बार प्रस्ताव उन का नहीं था कि एक सहकारी प्रकाशन किया जाये, इस बार हमारा आग्रह था कि नये काव्य का एक प्रतिनिधि संग्रह निकाला जाये। जो हो, संग्रह आपके सामने है; आप कविताओं को उन्हीं के गुण-दोष के आधार पर देखें, उन्हीं से कवि की सफलता-असफलता और उस के आदर्शों की परख करें! हम ने जो कुछ कहा, इसी आशा से कि आप आलोचकों-द्वारा आरोपित पूर्वग्रहों की मैली ओट से इन्हें न देखें, अपनी स्वच्छ सहृदयता से ही देखें; हमारा विश्वास है कि इस संग्रह से आप को तृप्ति मिलेगी।

—'अज्ञेय'

दूसरा
सप्तक

१. भवानीप्रसाद मिश्र

२. शकुन्त माथुर

३. हरिनारायण व्यास

४. शमशेरबहादुर सिंह

५. नरेश कुमार मेहता

६. रघुवीर सहाय

७. धर्मवीर भारती

दूसरा सप्तक

भवानीप्रसाद मिश्र

भवानीप्रसाद मिश्र

[भवानीप्रसाद मिश्र : जन्म १९१४; पहली कविता पच्चीस वर्ष पहले लिखो गयो थी, मगर फिर करीब चार साल कुछ नहीं लिखा। पन्द्रह-सोलह साल की उमर से लगातार लिखना शुरू किया और 'अब तक बहुत कविताएँ लिख कर डाल ली हैं।' संग्रह कोई प्रकाशित नहीं है, पत्र-पत्रिकाओं में अलबत्ता 'हाथ तंग होने पर छपने भेज देता हूँ—वह भी कम'।

"छोटी-सी जगह में रहता था, छोटी-सी नदी नर्मदा के किनारे, छोटे-से पहाड़ विन्ध्याचल के आँचल में छोटे-छोटे साधारण लोगों के बीच। एक दम घटना-विहीन, अविचित्र मेरे जीवन की कथा है। साधारण मध्यवित्त के परिवार में पैदा हुआ, साधारण पढ़ा-लिखा और काम जो किये वे भी असाधारण से अछूते। मेरे आस-पास के तमाम लोगों की सी सुविधाएँ-असुविधाएँ मेरी थीं। मैं नहीं जानता किस बात को सुनाने लायक़ मान कर सुनाने लगूँ—खास कर जब उस सुनाने का मतलब यह माना जायगा कि इस सब का मेरी कविता से गहरा सम्बन्ध है।" कई वर्ष 'आकाशवाणी' से सम्बद्ध रहे; अब गान्धी वाङ्मय का सम्पादन कर रहे हैं।]

वक्तव्य

कोई भी अनचाहा, बे-मन का काम करणीय नहीं होता। अपनी कविता और अपने कवि पर वक्तव्य देने की बिलकुल इच्छा नहीं थी। मगर 'सप्तक' की बनावट का वह एक आवश्यक अंग है, इस लिए बहुत लाचार हो कर लिखने बैठ गया हूँ।

कवि और कविता के बारे में जितनी बातें प्रायः कही और लिखी जाती हैं, उन के आस-पास जो प्रकाश-मण्डल खींचा जाता है और उन्हें जो रोज़मर्रा मिलने वाले आदमियों और उन की कृतियों से कुछ अलग स्वभाव, प्रेरणाओं और सामर्थ्यों की चीज़ माना जाता है, वैसा कम-से-कम अपने बारे में मुझे कभी नहीं लगा। तो हो सकता है कि मैं कवि ही न होऊँ।

मुझ पर किन-किन कवियों का प्रभाव पड़ा है, यह भी एक प्रश्न है। किसी का नहीं। पुराने कवि मैंने कम पढ़े, नये कवि जो मैंने पढ़े मुझे जँचे नहीं। मैंने जब लिखना शुरू किया तब अगर श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री सियारामशरण को छोड़ दें तो छायावादी कवियों की धूम थी। 'निराला', 'प्रसाद' और 'पन्त' फ़ैशन में थे। मेरी कम्बख्ती (जिसे कहने में भी डर लगता है)—ये तीनों ही बड़े कवि मुझे लकीरों में अच्छे लगते थे। किसी एक की भी एक पूरी कविता बहुत नहीं भा गयी। तो उन का क्या प्रभाव पड़ता। अँगरेज़ी कवियों में मैंने वर्ड्स्वर्थ पढ़ा था और ब्राउनिंग—विस्तार से। बहुत अच्छे मुझे लगते थे दोनों। वर्ड्स्वर्थ की एक बात मुझे बहुत पटी कि 'कविता की भाषा यथासम्भव बोल चाल के क़रीब हो'। तत्कालीन हिन्दी कविता इस खयाल के बिलकुल दूसरे सिरे पर थी। तो मैंने जाने-अजाने कविता की भाषा सहज रखी। प्रायः प्रारम्भ की एक रचना में ('कवि से') मैंने बहुत-सी बातें की थीं : दो लकीरें याद हैं :

जिस तरह हम बोलते हैं
उस तरह तू लिख;
और उस के बाद भी
हम से बड़ा तू दिख।

भारतीय कवियों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर मेरे लिए एक बड़े अरसे तक बन्द रहे। अँगरेज़ी या हिन्दी के माध्यम से कवि रवीन्द्रनाथ को कौन जान सकता है; जिन का लगभग कुछ भी अँगरेज़ी और हिन्दी में नहीं है। इस पुण्य-क्षण से आँखें चार हुई सन् '४२ में जब मुझे तीन साल की अवधि तक तब की सरकार ने बन्दी रखा। जेल में मैंने बंगला सीखी और कविता-ग्रन्थ गुरुदेव के प्रायः सभी पढ़ डाले। उन का बड़ा असर पड़ा। उस असर में अनेक कविताएँ लिखी हैं जो अगर कभी किताब के रूप में छप सकीं तो नाम सोच लिया है—'अनुगामिनी'। मगर 'अनुगामिनी' की कविताएँ मैं मेरी नहीं समझता। क्योंकि उन पर मुझ से ज़्यादा छाप रवीन्द्रनाथ की है। दूसरा सप्तक की 'असमंजस' कविता यद्यपि रवीन्द्रनाथ की किसी भी एक या अनेक कविताओं की छाया नहीं है, मगर मैं उसे अनुगामिनी तो मानता हूँ। उस का छन्द, उस का प्रवाह, उस की सजावट, ये मेरे नहीं हैं। अव्यक्त की ओर उस में जो इशारा है वह भी मेरा नहीं है। मैं भगवान् की बात कम करता हूँ—जब करता हूँ तो रहस्य की तरह नहीं। क्योंकि इस सिलसिले में मेरे सामने जो कुछ साफ़ है वह खूब साफ़ है, और जो साफ़ नहीं है, उस की बात करने का अर्थ दूसरों के लिए एक उलझन की सम्भावना पैदा करने जैसा है। कदाचित् इसी लिए मैंने अपनी कविता में प्रायः वही लिखा है जो मेरी ठीक पकड़ में आ गया है। दूर की कौड़ी लाने की महत्त्वाकांक्षा भी मैंने कभी नहीं की।

'दूसरा सप्तक' की मेरी कविताएँ मेरी ठीक प्रतिनिधि कविताएँ नहीं हैं। जगह की तंगी सोच कर मैंने छोटी-छोटी कविताएँ ही इस में दी हैं। 'आशा-गीत', 'दहन-पर्व', 'अश्रु और आश्वास', 'बँधा सावन' और ऐसी अन्य लम्बी कविताएँ अगर पाठकों के सामने पेश कर सकता तो ज़्यादा ठीक अन्दाज़ उन से लगता। बहुत मामूली रोज़मर्रा के सुख-दुःख मैंने इन में कहे हैं जिन का एक शब्द भी किसी को समझाना नहीं पड़ता। "शब्द टप-टप टपकते हैं फूल से; सही हो जाते हैं मेरी भूल से।"

बेशक 'भूल से' ही यह सब मेरे हाथों बन पड़ता है क्योंकि कभी कोई दर्शन, वाद या जिसे टेकनीक कहते हैं मैंने नहीं सोचा। बहुत से खयाल अलबत्ता मेरे हैं, मगर मैं देखता हूँ कि ज़्यादातर लोगों के खयाल भी तो वही हैं—वे अमल भले ही उन खयालों के मुताबिक न करते हों। दर्शन में अद्वैत, वाद में गान्धी का, और टेकनीक में सहज-लक्ष्य ही मेरे बन जायें, ऐसी कोशिश है। और अधिक क्या कहूँ। इतना भी न कहता तो ज़्यादा अच्छा लगता।

—भवानीप्रसाद मिश्र

कमल के फूल

फूल लाया हूँ कमल के।
क्या करूँ इन का ?
पसारें आप आँचल,
छोड़ दूँ;
हो जाय जी हल्का !

किन्तु होगा क्या कमल के फूल का ?

कुछ नहीं होता
किसी की भूल का—
मेरी कि तेरी हो—
ये कमल के फूल केवल भूल हैं।
भूल से आँचल भरूँ ना
गोद में इन को सँभाले
मैं वज़न इन के मरूँ—ना।

ये कमल के फूल
लेकिन मानसर के हैं,
इन्हें हूँ बीच से लाया,.
न समझो तीर पर के हैं।

भूल भी यदि है
अछूती भूल है !
मानसर वाले
कमल के फूल हैं।

सतपुड़ा के जंगल

सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए से,
ऊँघते अनमने जंगल ।

झाड़ ऊँचे और नीचे,
चुप खड़े हैं आँख मींचे,
घास चुप है, कास चुप है
मूक शाल, पलाश चुप है ।
बन सके तो धँसो इन में,
धँस न पाती हवा जिन में,
सतपुड़ा के घने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल ।

सड़े पत्ते, गले पत्ते,
हरे पत्ते, जले पत्ते,
वन्य पथ को ढँक रहे से
पंक दल में पले पत्ते ।
चलो इन पर चल सको तो,
दलो इन को दल सको तो,
ये घिनौने, घने जंगल
ऊँघते अनमने जंगल ।

अटपटी-उलझी लताएँ,
अलियों को खींच खायें,
पैर को पकड़ें अचानक,
प्राण को कस लें, कपायें,

साँप-सी काली लताएँ
बला की पाली लताएँ
लताओं के बने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल।

मकड़ियों के जाल मुँह पर,
और सिर के बाल मुँह पर,
मच्छरों के दंश वाले,
दाग़ काले-लाल मुँह पर,
बात झंझा वहन करते,
चलो इतना सहन करते,
कष्ट से ये सने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल।

अजगरों से भरे जंगल,
अगम, गति से परे जंगल,
सात-सात पहाड़ वाले,
बड़े-छोटे झाड़ वाले,
शेर वाले, बाघ वाले,
गरज और दहाड़ वाले,
कम्प से कनकने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल।

इन वनों के ख़ूब भीतर,
चार मुर्ग़े, चार तीतर,
पाल कर निश्चिन्त बैठे,
विजन पन के बीच पैठे,
झोंपड़ी पर फूस डाले
गोंड़ तगड़े और काले;

जब कि होली पास आती,
सरसराती घास गाती,
और महुए से लपकती

मत्त करती बास जाती,
गूँज उठते ढोल इन के,
गीत इन के गोल इन के
सतपुड़ा के घने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल।

जागते अँगड़ाइयों में,
खोह-खड्डों, खाइयों में,
घास पागल, कास पागल,
शाल और पलाश पागल,
लता पागल, वात पागल,
डाल पागल, पात पागल,
मत्त मुर्ग़े और तीतर,
इन वनों के ख़ूब भीतर;
क्षितिज तक फैला हुआ-सा
मृत्यु तक मैला हुआ-सा
क्षुब्ध, काली लहर वाला,
मथित, उत्थित ज़हर वाला,
मेरु वाला, शेष वाला,
शम्भु और सुरेश वाला
एक सागर जानते हो,
उसे कैसा मानते हो ?
ठीक वैसे घने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल;
धँसो इन में डर नहीं है,
मौत का यह घर नहीं है,
उतर कर बहते अनेकों, कल-कथा कहते अनेकों,
नदी, निर्झर और नाले, इन वनों ने गोद पाले।
लाख पंछी सौ हिरन-दल, चाँद के कितने किरन-दल,
झूमते बन-फूल, फलियाँ, खिल रहीं अज्ञात कलियाँ
हरित दूर्वा, रक्त किसलय, पूत पावन पूर्ण रसमय
सतपुड़ा के घने जंगल, लताओं के बने जंगल!

सन्नाटा

लो पहले अपना नाम बता दूँ तुम को,
फिर चुपके धाम बता दूँ तुम को—
तुम चौंक नहीं पड़ना यदि धीमे-धीमे
मैं अपना कोई काम बता दूँ तुम को।
कुछ लोग भ्रान्तिवश मुझे शान्ति कहते हैं,
निःस्तब्ध बताते हैं, कुछ चुप रहते हैं,
मै शान्त नहीं, निःस्तब्ध नहीं, फिर क्या हूँ ?
मैं मौन नहीं हूँ, मुझ में स्वर बहते हैं।
कभी-कभी कुछ मुझ में चल जाता है,
कभी-कभी कुछ मुझ में जल जाता है,
जो चलता है, वह शायद है मेंढक हो,
वह जुगनू है, जो तुम को छल जाता है।
मैं सन्नाटा हूँ, फिर भी बोल रहा हूँ,
मैं शान्त बहुत हूँ, फिर भी डोल रहा हूँ,
यह सरसर, यह खड़खड़, यह सब मेरी है,
वह है रहस्य, मैं इस को खोल रहा हूँ।
मैं सूने में रहता हूँ—ऐसा सूना—
ऊगा होता है जहाँ घास भी ऊना;
होते हैं झाड़ कहीं इमली, पीपल के,
घन अन्धकार होता है जिन से दूना।
तुम देख रहे हो मुझ को, जहाँ खड़ा हूँ,
तुम देख रहे हो मुझ को जहाँ पड़ा हूँ,
मैं ऐसे ही खँडहर चुनता-फिरता हूँ,
मैं ऐसी ही जगहों में पला-बढ़ा हूँ।
नीचे तलघर में समतल पर भू पर,
या यहाँ-क़िले की दीवारों के ऊपर,

कुछ जन-श्रुतियों का पहरा यहाँ लगा है
जो मुझे भयानक कर देती हैं छू कर।
तुम डरो नहीं, डर वैसे कहाँ नहीं है ?
पर ख़ास बात कुछ डर की यहाँ नहीं है,
बस एक बात है, वह केवल है ऐसी,—
कुछ लोग यहाँ थे, अब वे यहाँ नहीं हैं।
यहाँ बहुत दिन हुए, एक थी रानी,
इतिहास बताता उस की नहीं कहानी;
वह किसी एक पागल पर जान दिये थी
थी उस की केवल एक यही नादानी।
यह घाट नदी का अब जो टूट गया है,
वह यहाँ बैठ कर रोज़-रोज़ गाता था,
अब यहाँ बैठना उस का छूट गया है।
जब साँझ हुए रानी खिड़की पर आती,
थी पागल के गीतों को वह दुहराती;
तब पागल गाता और बजाता बंसी,
रानी उस की बंसी पर छुप कर गाती।
पर किसी एक दिन राजा ने यह देखा,
खिंच गयी हृदय पर उस के दुख की रेखा;
वह भरा क्रोध में आया औ' रानी से—
उस ने माँगा इन साँझों का लेखा।
रानी बोली, पागल को ज़रा बुला दो,
मैं पागल हूँ, राजा, तुम मुझे भुला दो;
मैं बहुत दिनों से जाग रही हूँ राजा !
बंसी बजवा कर मुझ को ज़रा सुला दो।
वह राजा था, हाँ कोई खेल नहीं था,
ऐसे जवाब से उस का मेल नहीं था,
रानी ऐसे बोली थी जैसे उस के
उस बड़े क़िले में कोई जेल नहीं था।
तुम जहाँ खड़े हो, यहीं कभी सूली थी,
रानी की कोमल देह यहीं झूली थी,
हाँ, पागल की भी यहीं, यहीं रानी की,

राजा हँस कर बोला—रानी भूली थी।
पर राजा ने फिर नहीं कभी सुख जाना
हर जगह गूँजता था पागल का गाना,
औ' बीच-बीच में—'राजा तुम भूले थे'—
रानी का हँस कर सुन पड़ता था ताना।
तब और बरस बीते, राजा भी बीते,
रह गये क़िले के कमरे रीते-रीते,
तब मैं आया, कुछ मेरे साथी आये,
अब हम सब मिल कर करते हैं मनचीते।
पर कभी-कभी जब पागल आ जाता है,
रोता है रानी को, या गा जाता है,
तब मेरे उल्लू, साँप और गिरगिट पर—
अनजान एक सकता-सा छा जाता है!

बूँद टपकी एक नभ से

बूँद टपकी एक नभ से,
किसी ने झुक कर झरोखे से
कि जैसे हँस दिया हो,
हँस रही-सी आँख ने जैसे
किसी को कस दिया हो;
ठगा-सा कोई किसी की आँख
देखे रह गया हो,
उस बहुत से रूप को, रोमांच रोके
सह गया हो।
बूँद टपकी एक नभ से,
और जैसे पथिक
छू मुस्कान, चौंके और घूमे
आँख उस की, जिस तरह
हँसती हुई-सी आँख चूमे,
उस तरह मैं ने उठायी आँख :
बादल फट गया था,
चन्द्र पर आता हुआ-सा अभ्र
थोड़ा हट गया था।
बूँद टपकी एक नभ से,
ये कि जैसे आँख मिलते ही
झरोखा बन्द हो ले,
और नूपुर ध्वनि, झमक कर,
जिस तरह द्रुत छन्द हो ले,
उस तरह बादल सिमट कर,
चन्द्र पर छाये अचानक,
और पानी के हज़ारों बूँद
तब आये अचानक।

मंगल-वर्षा

पी के फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।
हरियाली छा गयी, हमारे सावन सरसा री।

बादल आये आसमान में, धरती फूली री,
अरी सुहागिन, भरी माँग में भूली-भूली री,
बिजली चमकी भाग सखी री, दादुर बोले री,
अन्ध प्राण ही बही, उड़े पंछी अनमोले री,

छन-छन उठी हिलोर, मगन मन पागल दरसा री।
पी के फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।

फिसली-सी पगडण्डी, खिसली आँख लजीली री,
इन्द्र-धनुष-रँग-रँगी, आज मैं सहज रँगीली री,
रुनझुन बिछिया आज, हिला-डुल मेरी बेनी री,
ऊँचे-ऊँचे पेंग, हिंडोला सरग-नसेनी री,

और सखी सुन मोर! विजन वन दीखे घर-सा री।
पी के फूटे आज प्यार के, पानी बरसा री।

फुर-फुर उड़ी फुहार अलक हल मोती छाये री,
खड़ी खेत के बीच किसानिन कजरी गाये री,
झर-झर झरना झरे, आज मन प्राण सिहाये री,
कौन जन्म के पुण्य कि ऐसे शुभ दिन आये री,

रात सुहागिन गात मुदित मन साजन परसा री।
पी के फूटे आज प्यार के, पानी बरसा री।

टूटने का सुख

टूटने का सुख :
बहुत प्यारे बन्धनों को आज झटका लग रहा है,
टूट जायेंगे कि मुझ को आज खटका लग रहा है,
आज आशाएँ कभी की चूर होने जा रही हैं,
और कलियाँ बिन खिले कुछ धूर होने जा रही हैं,

बिना इच्छा, मन बिना,
आज हर बन्धन बिना,
इस दिशा से उस दिशा तक छूटने का सुख !
टूटने का सुख।

शरद का बादल कि जैसे उड़ चले रसहीन कोई
किसी को आशा नहीं जिस से कि सो यशहीन कोई,
नील नभ में सिर्फ़ उड़ कर बिखर जाना भाग जिस का,
अस्त होने के क्षणों में है कि हाय सुहाग जिस का,

बिना पानी, बिना वाणी,
है विरस जिस की कहानी,
सूर्य्य-कर से किन्तु क़िस्मत फूटने का सुख !
टूटने का सुख।

फूल श्लथ-बन्धन हुआ, पीला पड़ा, टपका कि टूटा,
तीर चढ़ कर चाप पर, सीधा हुआ खिंच कर कि छूटा,
ये किसी निश्चित नियम, क्रम की सरासर सीढ़ियाँ हैं,
पाँव रख कर बढ़ रही जिस पर कि अपनी पीढ़ियाँ हैं,

बिना सीढ़ी के बढ़ेंगे तीर के जैसे बढ़ेंगे,
इस लिए इन सीढ़ियों के फूटने का सुख !
टूटने का सुख।

प्रलय

एक दिन होगी प्रलय भी,
मत रहेगी झोपड़ी,
मिट जायेंगे नीलम-निलय भी।

सात हैं सागर किसी दिन
फैल एकाकार होंगे,
पंच तत्त्वों में गये बीते
बिचारे चार होंगे,
धार में बहना कहाँ का
अतल तक डुबकी लगेगी;
जागना तब व्यर्थ ही होगा,
अगर जगती जगेगी;
देखने की चीज़ होगी
मृत्यु की वैसी विजय भी।
एक दिन होगी प्रलय भी।

जब समुन्दर बढ़ रहा होगा,
बड़ी भगदड़ मचेगी,
और बड़वानल निगोड़ी,
सामने आ कर नचेगी,
क्या बुझायेंगे कि फ़ायर पम्प
मन मारे जलेंगे,
मौत रानी के यहाँ
उस दिन बड़े दीपक बलेंगे
लजा कर रह जायगी

उस रोज़ विद्युत् की अनय भी।
एक दिन होगी प्रलय भी।

हर हिमालय-श्रृंग पर
उठती लहर की ताल होगी,
और बर्फ़ीली सतह
बड़वाग्नि पी कर लाल होगी,
काल होंगी तारिणी गंगा,
तरणिजा व्याल होंगी;
और शिव होंगे न शंकर,
कंठगत नर-माल होगी;
कर न पायेगा हमें आश्वस्त
जननी का अभय भी।
एक दिन होगी प्रलय भी!

हम कि मिट्टी के खिलौने,
बूँद पड़ते गल मरेंगे;
हम कि तिन के धार में बहते,
शिखा छू जल मरेंगे;
नाश की किरणें कि द्वादश
सूर्य से श्रृंगार होगा;
कौन-सा वह बुलबुला होगा
कि मत अंगार होगा—
किस तरह वरदा सफल
होंगी बहुत हो कर सदय भी।
एक दिन होगी प्रलय भी!

वह प्रलय का एक दिन,
हर दिन सरकता आ रहा है;
काल-गायक गीत धीमे ही
सही, पर गा रहा है;

उस महा-संगीत का हर
प्राण में कम्पन चला है;
उस महा संगीत का स्वर,
प्राण पर अपने पला है;
आँख मीचे चल रहा है जग
कि छलता है समय भी।
एक दिन होगी प्रलय भी!

इस दुखी संसार में जितना
बने हम सुख लुटा दें;
बन सके तो निष्कपट मृदु हास के,
दो कन जुटा दें;
दर्द की ज्वाला जगायें, नेह
भींगे गीत गायें;
चाहते हैं गीत गाते ही रहें
फिर रीत जायें;
यह कि तब पछतायगी अपनी
विवशता पर प्रलय भी।
मत रहे तब झोंपड़ी
मिट जाय फिर नीलम-निलय भी!

असाधारण

तापित को स्निग्ध करे,
प्यासे को चैन दे,
सूखे हुए अधरों को
फिर से जो बैन दे
ऐसा सभी पानी है।

लहरों के आने पर,
काई-सा फटे नहीं;
रोटी के लालच में
तोते-सा रटे नहीं
प्राणी वहीं प्राणी है।

लँगड़े को पाँव और
लूले को हाथ दे,
सत की सँभार में
मरने तक साथ दे,
बोले तो हमेशा सच,
सच से हटे नहीं;
झूठ के डराये से
हरगिज़ डरे नहीं।
सचमुच वही सच्चा है।

माथे को फूल जैसा
अपने चढ़ा दे जो;
रुकती-सी दुनिया को
आगे बढ़ा दे जो;
मरना वही अच्छा है।

प्राणी का वैसे और
दुनियां में टोटा नहीं,
कोई प्राणो बड़ा नहीं
कोई प्राणी छोटा नहीं ।

स्नेह-शपथ

हो दोस्त या कि वह दुश्मन हो,
हो परिचित या परिचय-विहीन;
तुम जिसे समझते रहे बड़ा
या जिसे मानते रहे दीन;
यदि कभी किसी कारण से
उस के यश पर उड़ती दिखे धूल,
तो सख़्त बात कह उठने की
रे, तेरे हाथों हो न भूल।
मत कहो कि वह ऐसा ही था,
मत कहो कि इस के सौ गवाह;
यदि सचमुच ही वह फिसल गया
या पकड़ी उस ने ग़लत राह—
तो सख़्त बात से नहीं, स्नेह से
काम ज़रा ले कर देखो;
अपने अन्तर का नेह अरे,
दे कर देखो।

कितने भी गहरे रहें गर्त,
हर जगह प्यार जा सकता है;
कितना भी भ्रष्ट ज़माना हो,
हर समय प्यार भा सकता है;
जो गिरे हुए को उठा सके
इस से प्यारा कुछ जतन नहीं,
दे प्यार उठा पाये न जिसे
इतना गहरा कुछ पतन नहीं।
देखे से प्यार भरी आँखें

दुस्साहस पीले होते हैं
हर एक धृष्टता के कपोल
आँसू से गीले होते हैं।
तो सख़्त बात से नहीं
स्नेह से काम ज़रा ले कर देखो,
अपने अन्तर का नेह
अरे, दे कर देखो।

तुम को शपथों से बड़ा प्यार,
तुम को शपथों की आदत है;
है शपथ ग़लत, है शपथ कठिन,
हर शपथ कि लगभग आफ़त है;
ली शपथ किसी ने और किसी के
आफ़त पास सरक आयी,
तुम को शपथों से प्यार मगर
तुम पर शपथें छायीं-छायीं।

तो तुम पर शपथ चढ़ाता हूँ :
तुम इसे उतारो स्नेह-स्नेह,
मैं तुम पर इस को मढ़ता हूँ
तुम इसे बिखेरो गेह-गेह।
है शपथ तुम्हें करुणाकर की
है शपथ तुम्हें उस नंगे की;
जो स्नेह भीख की माँग-माँग
मर गया कि उस भिखमंगे की !
हे सख़्त बात से नहीं
स्नेह से काम ज़रा ले कर देखो,
अपने अन्तर का नेह
अरे, दे कर देखो।

गीत-फ़रोश

जी हाँ हुज़ूर, मैं गीत बेचता हूँ।
मैं तरह-तरह के
गीत बेचता हूँ;
मैं सभी क़िसिम के गीत
बेचता हूँ।

जी, माल देखिए दाम बताऊँगा,
बेकाम नहीं है, काम बताऊँगा;
कुछ गीत लिखे हैं मस्ती में मैंने,
कुछ गीत लिखे हैं पस्ती में मैंने;
यह गीत, सख़्त सरदर्द भुलायेगा;
यह गीत पिया को पास बुलायेगा।
जी, पहले कुछ दिन शर्म लगी मुझ को
पर पीछे-पीछे अक़्ल जगी मुझ को;
जी, लोगों ने तो बेच दिये ईमान।
जी, आप न हों सुन कर ज़्यादा हैरान।
मैं सोच-समझ कर आख़िर
अपने गीत बेचता हूँ;
जी हाँ, हुज़ूर मैं गीत बेचता हूँ।

यह गीत सुबह का है, जा कर देखें,
यह गीत ग़ज़ब का है, ढा कर देखें;
यह गीत ज़रा सूने में लिखा था,
यह गीत वहाँ पूने में लिखा था।
यह गीत पहाड़ी पर चढ़ जाता है,
यह गीत बढ़ाये से बढ़ जाता है;
यह गीत भूख और प्यास भगाता है;

जी, यह मसान में भूत जगाता है;
यह गीत भुवाली की है हवा हुज़ूर
यह गीत तपेदिक की है दवा हुज़ूर।
मैं सीधे-साधे और अटपटे,
गीत बेचता हूँ;
जी हाँ, हुज़ूर, मैं गीत बेचता हूँ।

जी, और गीत भी हैं, दिखलाता हूँ:
जी, सुनना चाहें आप तो गाता हूँ;
जी, छन्द और बे-छन्द पसन्द करें—
जी, अमर गीत और वे जो तुरत मरें।
ना, बुरा मानने की इस में क्या बात,
मैं पास रखे हूँ क़लम और दावात....
इन में से भाये नहीं, नये लिख दूँ?
जो नये चाहिए नहीं, गये लिख दूँ।
इन दिनों कि दुहरा है कवि-धन्धा,
हैं दोनों चीज़ें व्यस्त, क़लम, कन्धा।
कुछ घण्टे लिखने के, कुछ फेरी के
जी, दाम नहीं लूँगा इस देरी के।
मैं नये पुराने सभी तरह के
गीत बेचता हूँ।
जी हाँ हुज़ूर मैं गीत बेचता हूँ।

जी गीत जनम का लिखूँ, मरन का लिखूँ;
जी, गीत जीत का लिखूँ, शरन का लिखूँ;
यह गीत रेशमी है, यह खादी का,
यह गीत पित्त का है, यह बादी का।
कुछ और डिज़ाइन भी हैं, ये इल्मी—
यह लीजे चलती चीज़ नयी, फ़िल्मी।
यह सोच-सोच कर मर जाने का गीत,
यह दुकान से घर जाने का गीत,

जी नहीं, दिल्लगी की इस में क्या बात ?
मैं लिखता ही तो रहता हूँ दिन-रात।
तो तरह-तरह के बन जाते हैं गीत।
जी रूठ-रूठ कर मन जाते हैं गीत।
जी बहुत ढेर लग गया हटाता हूँ,
गाहक की मर्ज़ी—अच्छा, जाता हूँ।
मैं बिलकुल अन्तिम और दिखाता हूँ—
या भीतर जा कर पूछ आइए, आप।
है गीत बेचना वैसे बिलकुल पाप;
क्या करूँ मगर लाचार हार कर
गीत बेचता हूँ।
जी हाँ, हुज़ूर, मैं गीत बेचता हूँ।

वाणी की दीनता

वाणी की दीनता,
अपनी मैं चीन्हता।
कहने में अर्थं नहीं
कहना पर व्यर्थं नहीं
मिलती है कहने में
एक तल्लीनता।
वाणी की दीनता
अपनी मैं चीन्हता।

आस-पास भूलता हूँ
जग भर में झूलता हूँ;
सिन्धु के किनारे, कंकर
जैसे शिशु बीनता।
वाणी की दीनता
अपनी मैं चीन्हता।

कंकर निराले नीले
लाल सतरंगी पीले
शिशु की सजावट अपनी,
शिशु की प्रवीनता।
वाणी की दीनता
अपनी में चीन्हता।

भीतर की आहट भर
सजती है सजावट पर
नित्य नया कंकर क्रम,
क्रम की नवीनता।
वाणी की दीनता
अपनी में चीन्हता।

वाणी को बुनने में;
कंकर के चुनने में,
कोई उत्कर्ष नहीं
कोई नहीं हीनता।
वाणी की दीनता
अपनी में चीन्हता।

केवल स्वभाव है
चुनने का चाव है
जीने की क्षमता है
मरने की क्षीणता
वाणी की दीनता
अपनी में चीन्हता।

शकुन्त माथुर
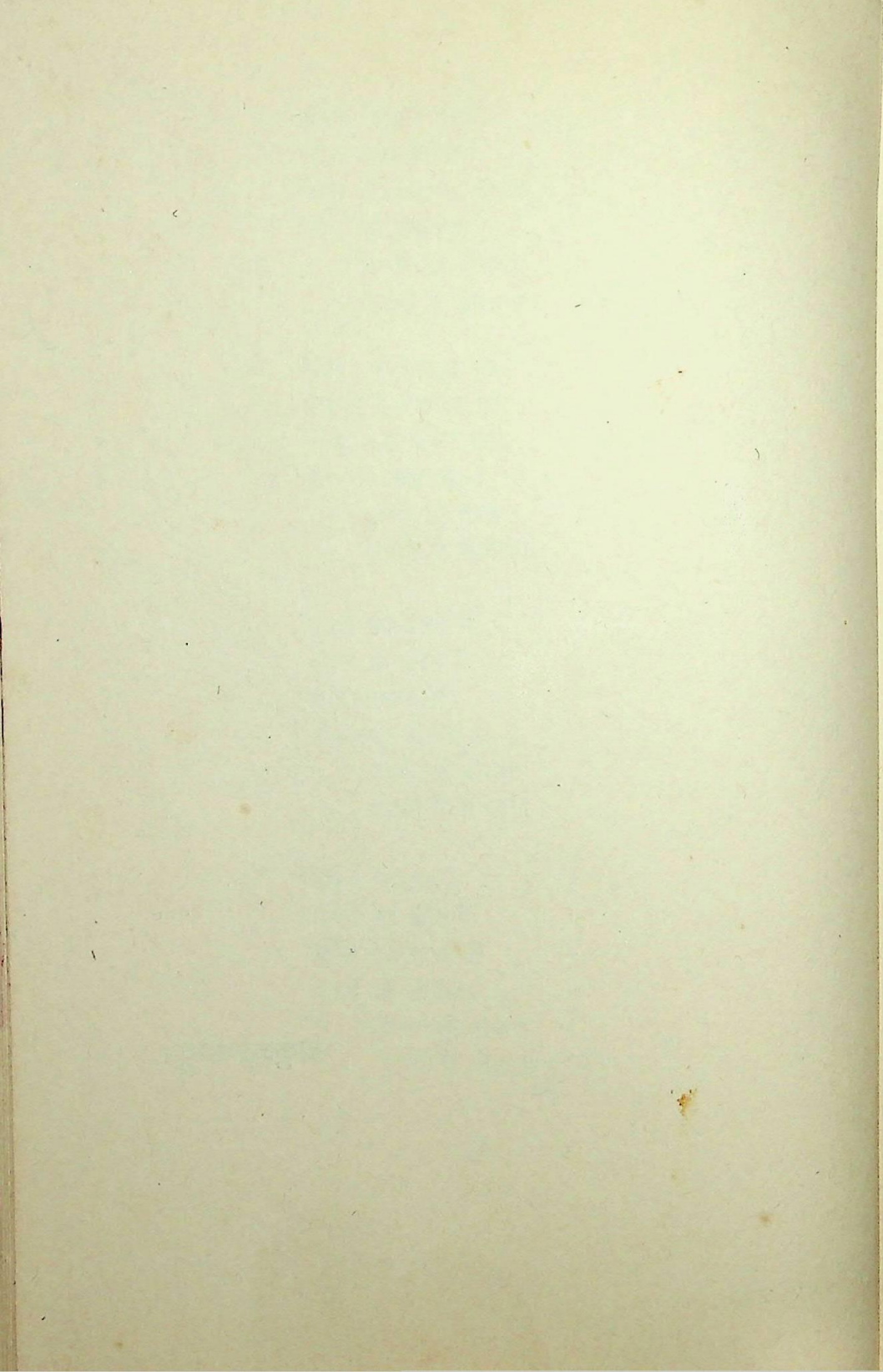
शकुन्त माथुर

●

[शकुन्त माथुर : जन्म दिल्ली में, मार्च सन् १९२२। प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा दिल्ली में ही हुई। प्रभाकर तथा साहित्यरत्न। इण्टरमीडियेट युक्तप्रान्त से। पीढ़ियों से दिल्ली के निवासी होने के कारण संसार दिल्ली के ही नागरिक कोलाहल-भरे वातावरण में सीमित रहा। सन् १९४० में श्री गिरिजाकुमार माथुर से विवाह होने पर पहली बार सैकड़ों मील दूर मध्यभारत के जंगलों और गाँवों के दर्शन हुए, जिस की छाप काव्य-रचना पर गहरी पड़ी।

'बचपन से तुकबन्दी और गाने लिखने का शौक़ था, जिन की सार्थकता पारिवारिक समारोहों तक ही रही। आरम्भ-काल की कुछ रचनाएँ साप्ताहिक 'अर्जुन' तथा अन्य छोटे-मोटे पत्रों में अनजाने ही प्रकाशित करा दी थीं। अपने को कवि तथा अपनी रचनाओं को काव्य मानने की ग़लती बहुत समय तक नहीं की। आज भी कवि की पदवी स्वीकार करने में अत्यधिक संकोच है—कुछ अजीब-सा लगता है।'

'चित्रकारी, वस्त्रों की नयी-नयी डिज़ाइनिंग, मोटर चलाना और मन भर-कर सोना मुझे भाते रहे हैं। अफ़सोस यही है कि विवाह के बाद सब समाप्त से हो गये, विशेष कर अन्तिम तो अब शायद ही फिर प्राप्त हो सके। गृहस्थी की निरन्तर रहने वाली दस वर्ष की बेहोशी में मेरी सामाजिक चेतना फिर लौट आयी है और संसार में कुछ करने और कुछ छोड़ जाने का मन होता है। इस का बीज था बचपन में कांग्रेस के समारोहों, जलूसों, लाठी चार्जों में भाग लेना—जो आग मन में आज भी वर्त्तमान है और सदा आगे बढ़ने को प्रेरित करती रहती है।']

वक्तव्य

●

बात बहुत सीधी-सी है। प्रत्येक मनुष्य वही काम करता है जिस में उसे सुख मिले। भौतिक सुविधाओं में सुख पाते तो सभी को देखा है, किन्तु आध्यात्मिक चिन्तन से ले कर काव्य और ललितकलाओं तक में भौतिक सुख से भी अधिक कितना सुख मिलता है यह उन का पुजारी ही जान सकता है। नारी का सुख केवल उस की घर-गृहस्थी तक ही सीमित है, यह मैं नहीं मानती। गृहस्थी के साज-सँवार के बाद भी वह पूरा सन्तोष नहीं पाती, उसे लगता है जैसे वह अपूर्ण है। उस की सांसारिक और व्यावहारिक सुख-साधना की पूर्ति होने पर भी वह एक सामाजिक अभाव महसूस करती है और वह है मानसिक विकास का। घर में रह कर वह अपनी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करती है, किन्तु फिर भी मानसिक क्षेत्र में पैर फैलाने का अवसर उसे घर की चारदीवारी में प्राप्त नहीं होता। इसी लिए सब प्रकार का सुख होते हुए भी इस अभाव की पूर्ति मुझे काव्य में मिली। यहाँ मैं घर बैठे ही भाँति-भाँति के नगरों, रंगीन भवनों, क्लबों, नर-नारियों, तेज़ी से चलते जीवन से ले कर अँधेरी तंग गलियों और सुनसान गाँवों तक का चित्र उतार कर मन भर लेती हूँ। पूँजीपति के माल-गोदामों से ले कर मज़दूर, क़ुली, खटबुना, लोहार, ठेलेवाले तक के जीवन में झाँक लेती हूँ। काव्य का माध्यम मैंने इसी लिए अनायास अपना लिया और इसे अपना कर मुझे इतना सुख मिला कि मेरे शेष अभावों की पूर्त्ति हो गयी। मेरी आरम्भिक रचनाएँ इसी दृष्टिकोण को ले कर चली थीं।

काव्य-सम्बन्धी अपने विचार प्रकट करने से पूर्व मैं एक बात स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि यद्यपि मैंने पिछले दस वर्षों में ढेर कविताएँ लिखी हैं, पर मैंने आरम्भ से यह कभी नहीं सोचा कि मैं कवि हूँ, और मेरी रचनाएँ औरों के लिए भी कुछ महत्त्व रख सकती हैं। मैंने जब भी कुछ लिखा उसे मन की एक मौज समझ कर छोड़ दिया, और मेरे पति ने भी उसे सदा हँसी में टाल दिया। इस के अतिरिक्त जब भी मैं कविता लिखती, इन की कोई न कोई रचना सामने

आ कर खड़ी हो जाती और मेरी कविता शर्मिन्दा हो जाती। अभी कुछ समय पूर्व इन के कुछ प्रतिष्ठित साहित्यिक मित्रों ने मेरी रचनाएँ देखीं और उन्हें प्रकाश में लाने को बाध्य किया। इस कारण इन रचनाओं को कविता कहने का श्रेय हम दोनों का नहीं, मित्रों का है। यह भूमिका मैंने इस लिए स्पष्ट की है कि काव्य पर विचार प्रकट करने का मेरा न कभी मन हुआ, न उद्देश्य ही रहा। आज यदि वह अवसर आ ही गया है तो उस की ज़िम्मेदारी मुझ पर नहीं है।

काव्य-रचना मैंने अपने ही आप को सन्तुष्ट करने के लिए की थी—एकदम स्वान्तःसुखाय। इस लिए न उस में किसी विशेष विचारधारा, आदर्श, टेकनीक, साहित्यिकता, भाषा और भावना की कलात्मकता का विचार ही उठा, न मुझे प्रचलित विवादों का दृष्टिभेद ही हुआ। इसी कारण सम्भव है मेरी कविताओं में काव्य के बहुत से प्रतिष्ठित गुण न हों, जैसे—विचारों की गरिमा अथवा छन्द और तुक इत्यादि की सजावट। बहुत-सी रचनाओंमें मनमाने छन्द हैं, मनमानी गति है, मनमाना संगीत है, प्रतिष्ठित रीति के अनुसार यह कहिए कि नहीं है। मैंने जो कुछ जैसा मन में आया लिखा है, नियमों का कोई विचार ही उत्पन्न नहीं हुआ, इसीलिए मेरी सारी रचनाएँ एक प्रकार से कविता द्वारा अपने को व्यक्त करने का एक लम्बा प्रयोग है।

किन्तु ज्यों-ज्यों मेरा काव्यक्षेत्र विकसित हुआ मैंने यह अनुभव किया कि स्वान्तःसुखाय काव्य को सार्थकता तभी है जब वह प्रत्येक को स्वान्तःसुखाय लगे। वह एक ही के आनन्द की परिधि में न रहे; वह व्यक्ति के संकुचित दायरे से ऊपर उठ कर वायु की तरह फैल सके और सब को छू सके और इस प्रकार वह स्वयं ही बहुजनहिताय हो जाय। कवि की आकांक्षाएँ, भावनाएँ इतनी विस्तृत हों कि उन की सीमा में जन-जन की भावनाएँ आ सकें, यह तभी सम्भव है जब वे भावनाएँ उस के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की आवाज़ बन कर निकलें, खोखले प्रचार का आधार ले कर नहीं। वर्ना ऐसी कविता फूहड़ होगी, उस से तो पैम्फ़लेटों का गद्य ही बेहतर है।

और अन्त में यह कि कविता जीवित हो, अर्थात् वह जीवन के वास्तविक वातावरण और परिस्थितियों की ज़मीन पर जन्म ले; इसी में उस की पूर्णता है, और अब इसी दृष्टिकोण के सहारे मैं आगे बढ़ूँगी।

—शकुन्त माथुर

दोपहरी

गर्मी की दोपहरी में
तपे हुए नभ के नीचे
काली सड़कें तारकोल की
अंगारे-सी जली पड़ी थीं
छाँह जली थी पेड़ों की भी
पत्ते झुलस गये थे
नंगे-नंगे दीर्घकाय, कंकालों से वृक्ष खड़े थे
हो अकाल के ज्यों अवतार।

एक अकेला ताँगा था दूरी पर
कोचवान की काली-सी चाबुक के बल पर
वो बढ़ता था
घूम-घूम जो बलखाती थी सर्प सरीखी
बेदर्दी से पड़ती थी दुबले घोड़े की गर्म
पीठ पर।
भाग रहा वह तारकोल की जली
अँगीठी के ऊपर से।

कभी एक ग्रामीण धरे कन्धे पर लाठी
सुख-दुःख की मोटी-सी गठरी
लिये पीठ पर
भारी जूते फटे हुए
जिन में से थी झाँक रही गाँवों की आत्मा
ज़िन्दा रहने के कठिन जतन में
पाँव बढ़ाये आगे जाता।

घर की खपरैलों के नीचे
चिड़ियें भी दो-चार चोंच खोल
उड़ती छिपती थीं
खुले हुए आँगन में फैली
कड़ी धूप से।

बड़े घरों के श्वान पालतू
बाथरूम में पानी की हल्की ठण्डक में
नैन मूँद कर लेट गये थे।

कोई बाहर नहीं निकलता
साँझ समय तक
थप्पड़ खाने गर्म हवा के
सन्ध्या की भी चहल-पहल ओढ़े थी
गहरे सूने रँग की चादर
गर्मी के मौसम में।

ये हरे वृक्ष

ये हरे वृक्ष
यह नयी लता
खुलती कोंपल
यह बन्द फलों की कलियाँ सब
खुलने को, खिलने को, झुकने को होतीं
स्वयं धरा पर।

धूल उड़ रही,
धूल बढ़ रही,
जबरन् रोकेगी यह राह
अपनी धाक जमा कर
ज़ोर जमा कर आँधी।

तोड़ रही कुछ हरे वृक्ष
सब नयी लता—
ये परवश हैं
इस धरती की बात रही यह
कहीं उगा दे
ऊँचे पर, नीचे पर, पत्थर पर
पानी में।

ये उपकारी हरे वृक्ष
यह नयी लता
ख़ुलती कोंपल
खुलने पर, खिलने पर, पकने पर
झुक जायेंगी स्वयं धरा पर
फिर से उगने को कल
नये रूप में।

सुनसान गाड़ी

शून्य निशि में
और ऊँची-नीची पतली राह पर
धूल के बादल उठाती जा रही थी
एक वह सुनसान गाड़ी,
गाड़ी वाला हो उनींदा डूब जाता
दूर पड़ कर साथ चलती छाँह में—
गाँव सारे भर चुके थे
रात से।

उन गरीबी के घरों में
मन्द दीपक बुझ चले थे
पास आती फिर निकल जाती हुईं
वे रोज़ सन्ध्या की आवाज़ें
उन कुओं पर अब नहीं थीं दूर तक।

घाट भी सूना पड़ा था
पंछियों के स्वर समेटे
नींद में थे पेड़,
केवल वायु की कुछ सरसराहट
भय से जगा देती थी गाड़ीवान को,
और गाड़ी जा रही थी
धीरे-धीरे
चीरती सुनसान को।

इतनी रात गये

हौले-हौले की पद-चाप
दबी पवन के साथ सुनाई पड़ती
तन्द्रिल अलकों का अटकाव
सुलझना फिर-फिर साफ़ सुनाई पड़ता
चुप सोयी इस नयी चमेली के नीचे
नूपुर किस के मन्द लजीले बज उठते हैं
इतनी रात गये।

गहरी ख़ुशबू केसर की
बढ़ी हुई मेंहदी के नीचे फैल रही है
पीला पड़ कर सूरज नीचे उतर रहा है
या सहमा-सा चाँद उतर कर
उलझ गया है
फलों के झुरमुट में।

केसर रंग रँगे आँगन

केसर रंग रँगे आँगन गृह-गृह के
टेसू के फूलों-से पीले
भीतों पर रँग पड़े दिख रहे
चित्र छपे ज्यों सुन्दर-सुन्दर
ऊँचे ढेर लगे काँसे की थलियों में
लाल हरे पीले गुलाल के,

धूम मचाती होली आयी
सखि, डालें कलसी भर जल की
धार बहायें सिर से कटि तक
भीज गये बारीक वसन सब
जिन से निकले गोरे तन की आभा हलकी।

सुन्दरियों के गोल बदन
लिपटे गुलाल से
ज्यों सूरज पर सन्ध्या-बादल
ज़ोर जमा खींचे पिचकारी
मुरकी जाये नरम कलाई
छोड़ फुआरें रँग सब डालें
बजें चूड़ियाँ
फिसलें साड़ी
मसल गये रँग
मसल गये तन
मसक गयी अब मूठी गोरी
किरण उतर कर नभ से आयी
आज खेलने को ज्यों होली।

उड़ आया मद-भरा समीरण
उड़े हरे पीले गुलाल सँग
केसर रंग रँगे हैं आँगन
टेसू के फूलों-से पीले।

पूर्णमासी रात-भर

पूर्णमासी रात-भर
पोती रही सुधा
अंक में शशि के सिमट कर
धोती रही श्यामल बदन
सुध-बुध बिसार
दिन सरीखी श्वेत चादर ढांक····

उस सुनहली सेज पर
तारकों का जाल था जिस पर बना
पूर्णिमा की सुख-भरी थी रात।

कब चितेरा कौन-सा रँग दे सकेगा
एक ही स्याही की गहरी छाप से
और जल के क्षीण छींटों से
मिटा कर
चित्र क्या बाक़ी रहेगा ?

देश को अपने बिदेसी जायगा
चन्द्र का प्रस्थान होगा दूर पर
हाँ, तकेगी राह
चन्दन के वनों में चाँदनी
फिर-फिर सिकुड़ती
आँख से आँसू गिराती
सलवट पड़े गुलाब पर।

जान-बूझ कर नहीं जानती

आज मुझे लगता संसार खुशी में डूबा
क्यों ?
जान-बूझ कर नहीं जानती ।
आज मुझे लगता संसार खुशी में डूबा—
माँ ने पाया अपना धन ज्यों
बहुत दिनों का खोया,
बहुत बड़ी क्वाँरी लड़की को सुघर मिला
हो दूल्हा,
मैल-भरी दीवारों पर राजों ने फेरा चूना,
किसी भिखारिन के घर में; बहुत दिनों के
पीछे, मन्द जला हो चूल्हा ।
बूढ़े की काया में फिर से एक बार
यौवन हो कूदा ।
पकड़ गया था चोर अकेले कूचे में जो
किसी तरह वह कारागृह से छूट गया हो,
या कि अचानक किसी वियोगिन का पति
लौटा
उसी तरह
आज मुझे लगता संसार खुशी में डूबा
क्यों ?

जान-बूझ कर
नहीं जानती ।

डर लगता है

मधु से भरे हुए मणि-घट को
खाली करते डर लगता है।
जिस में सारा सिन्धु समाया
मेरे छोटे जीवन-भर का
दूजे बर्तन में उँडेलते
एक बूँद भी छिटक न जाये
कहीं बीच में टूट न जाये
छूने भर से जो कँपता है।
मधु से भरे हुए मणि-घट को।

इस धरणी की प्यासी आँखें
लगीं इसी की ओर एकटक
आयी जग में सुधा कहाँ से
जल का भी तो काल पड़ा है।

प्राण बिना मिट्टी-सा यह तन
भार उठाऊँ इस का कैसे
छोड़ नहीं पाती फिर भी तो
ज़रा उठाते जी हिलता है।

तन गरमाया दुख लपटों से
धीरे-धीरे जला जा रहा
अभी बहुत बाक़ी जलने को
घट में मेरे पड़ी दरारें
साहस आज दूर भगता है।
मधु से भरे हुए मणि-घट को।

ज़िन्दगी का बोझ

भारी है जीवन
झूठे बोझों से
जो नहीं छूते हैं
ज़रा भी जीवन

पीठ पर लादे वह
जब थक जाता है
हाथों को पाँवों को
छोड़ बैठ जाता है

बिस्तर को फेंक
बीच प्लेटफ़ार्म
मुँह बेरुख़ी से
घूमता है वहाँ

किन्तु यह जीवन है
घड़ी की सुई भी
कोल्हू का बैल
प्रति दिन चलता है

भागता शौक़ से
स्टेशन पर क़ुली
ढोता है बोझा
ढोता है शक्ति-भर
पसीना पोंछता
कोई भाव भीतरी
मुख पर न लाता

गन्दा नहीं जीवन
सुन्दर है पहलू
पुर्ज़ा एक बनता
भारी मशीन का।

दौड़ का है वक़्त
भूमि में तीव्रता
देशों में तनाव
नर में खिंचाव है

रेल के डिब्बे में
छोटे में छोटा
बड़े में बड़ा है
मानवों में भेद

एक कश खींचता है
सिगरेट दाब कर
छोटे से कहता
'गेट डाउन डैम'

भिड़े हैं मुसाफ़िर
जमघट इकट्ठा है
प्लेटफ़ार्म भरा
दौड़ का है वक़्त

चला जा रहा
हिन्दी साहित्य
रेल में बैठ
दौड़ती कहानी
क्वाँरियों-सी
घिसटे लेख भी
पंगु-से, झोली फटी, टुकड़े बिखर रहे।

आलोचनाएँ सो रहीं
बेफ़िक्र
परवाह नहीं
है सीट तो रिज़र्व

दौड़ते हैं क्या
कभी चींटे भी
बरसाती वक़्त है
मिश्री का कूज़ा
पास में पड़ा है
छूते हैं कूज़ा
हटते हैं छूते
होते हैं ख़ुश फिर

घूम-घूम दायें
अगल-बग़ल लिपटे
मिश्री के
कूज़े पर
कवि-जन प्यारे।

लीडर का निर्माता

सजा है
रेशम के पर्दों से ड्राइंग रूम
सोडे से, फिनील से,
और गरम पानी से
धुल रहे बाथरूम।

टावेल रुँए का हाथ
लाण्ड्री-धुला, गोरा—
कोठी से निकल रहा बैरा।

चपरासी कसे बेल्ट,
सेक्रेटरी लिये डायरी,
गेट पर कार खड़ी,
लोगों को इन्तज़ार—
कौन आ रहा ?
लीडर आ रहा !

कौन है जा रहा ?
सड़ी है गली टपरे-सी
टपरा सड़ा है घूरे-सा,
बम्बा है पानी का
घर से बहुत दूर;
टूटे घड़े हाथ में
काई चढ़े

निकल रही छिपकली-सी
लड़की दरवाज़े से;

गली का पिल्ला बन
फिर रहा बच्चा
लिये ख़ाली बोतल
मट्टी के तेल की।

कूड़े-से भरी गाड़ी
खड़ी है गली के बीच
भंगी का इन्तज़ार
गन्दगी का संसार।

जिस में है बोल रहा
मौत के सिगनल-सा
भोंपू दूर मील का।
भूखा ही
कौन है जा रहा ?
लीडर का निर्माता !

ताज़ा पानी

धरा पर गन्ध फैली है
हवा में साँस भारी है,
रमक उस गन्ध की है
जो सड़ाती मानवों को
बन्द जेलों में।

सुबह में
साँझ में है
घुल रहा
यह रक्त का सूरज।

उतरती धूप खेतों में
जलाती आग वन-पौदे,
खड़े जो गेहूँ के पौदे
बने भाले पके बरछे।

नहीं हैं झूमती बालें,
खड़ी हैं चुप बनी लपटें
जला देने को छप्पर वे
उतर जाने को सीने में
ग़रीबों के
किसानों के।

सड़ी झीलों से उड़ते आज
लोभी मांस के बगले
दबाये चोंच में मछली,
वहीं बैठे हुए हैं गिद्ध
रहे हैं घूर

मछली को
गिरी जो
चोंच से मछली
लगाये घात बैठे हैं
लगाये दाँव बैठे हैं

डुबाता गन्दी झीलें
बढ़ रहा है
आज यह चश्मा
लिये ताज़ा नया पानी
चला आता है
यह चश्मा
उगाता है शहीदों को
किनारे पर बढ़ाता है
नये ख़ूँ को
सदा आगे,
डुबाता आ रहा है
वह विषैले रक्त के जोहड़
लिये ताज़ा
नया पानी
चला आता है यह चश्मा
नया मानस लगाता आ रहा है
नया सूरज बनाता आ रहा है।

हरिनारायण व्यास
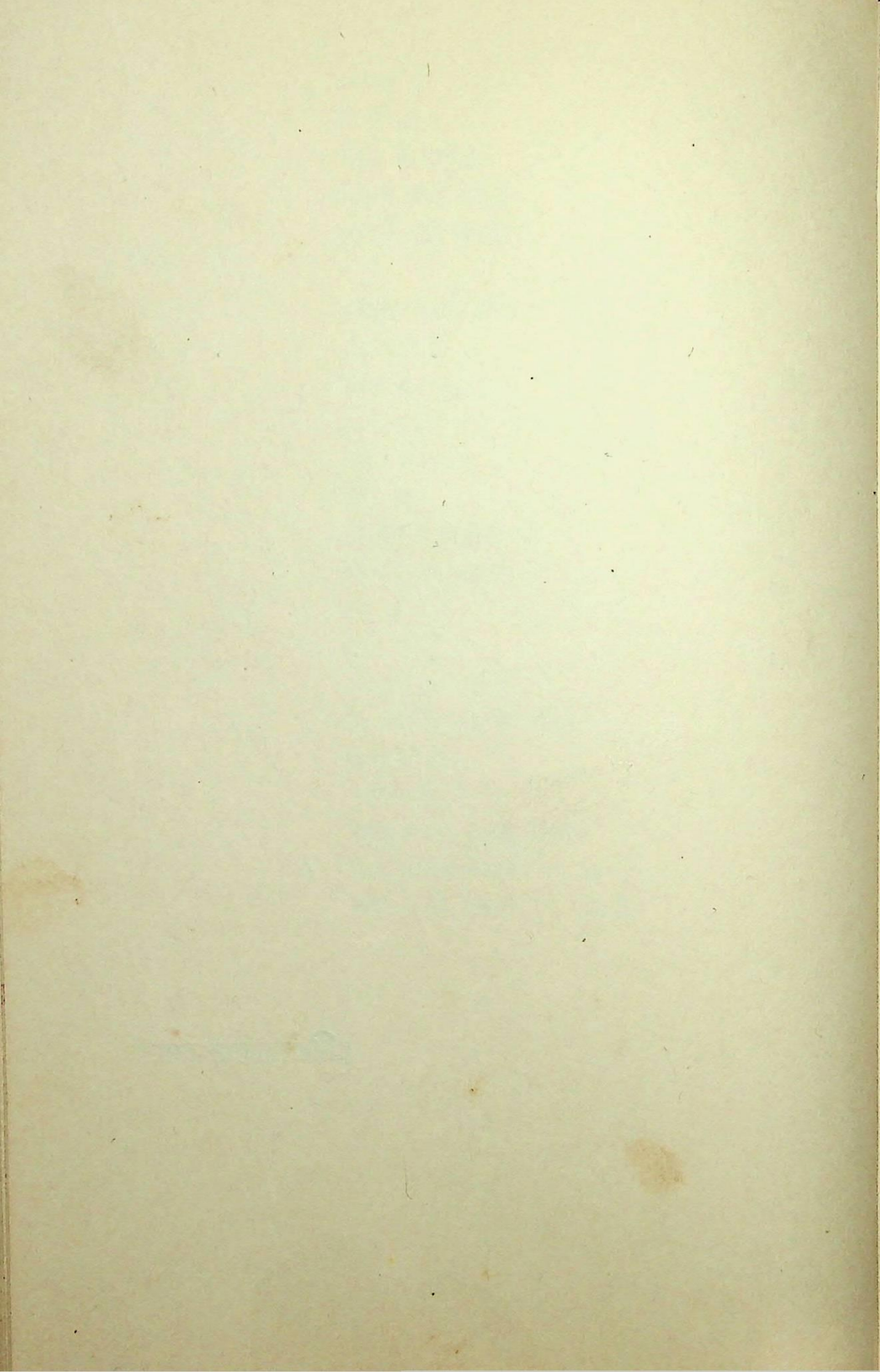
हरिनारायण व्यास

•

[हरिनारायण घनश्याम व्यास : जन्म सुन्दरसी, मध्य भारत, १४ अक्टूबर १९२३। साधनों के अभाव के कारण शिक्षार्थी के नाते बचपन से ही घर से बाहर रहा; उज्जैन और बड़ोदा में शिक्षा ग्रहण की। 'मज़दूर सभा की लाइब्रेरियनशिप ले कर जीवन-संघर्ष में प्रविष्ट हुआ; आज भी यहो व्यवसाय है—बड़ोदा, लखनऊ, नागपुर, कटक आदि घूमकर अब पूना आ गया हूँ।'

'कविता की ओर बचपन से रुचि रही। मुझे किरानी की वह दुकान अभी तक याद है जिस पर बैठ कर रात को देर तक गाँव की किसी घटना या किसी व्यक्ति को ले कर तुकबन्दियाँ सुनाया करता था। मामा पं० गोपीवल्लभ उपाध्याय के बौद्धिक प्रभाव से साहित्य की ओर झुका; फिर उज्जैन में बन्धु गजानन मुक्तिबोध और गुरुवर प्रभाकर माचवे के सम्पर्क से कवि जीवन को चेतना प्राप्त हुई। गिरिजाकुमार माथुर का सहवास भी मेरे जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

'एकान्त पसन्द है। सामाजिक जीवन से इस लिए भी घबराता हूँ कि उस के साथ अपने देहाती व्यक्तित्व का जोड़ नहीं बैठता। पुस्तकों का सहवास प्रिय है; सभी भाषाएँ सीखने का शौक़।']

वक्तव्य

●

वैयक्तिक चेतना पूँजीवाद की देन है। हिन्दी में तो व्यक्तिवादी साहित्य का सूत्रपात ब्रिटिश साम्राज्यवाद का ही प्रसाद है। इस के पूर्व हिन्दी साहित्य चाटुकारिता के रूप में था।

ब्रिटिश राज्य में जागृत यह वैयक्तिकता वस्तुतः जीवन को प्रेरणा देने में असमर्थ रही। क्योंकि दासत्व की बेड़ियों से बँधा हुआ जनता का मन इस नवीन स्वामीत्व के उदय से अनन्तकालीन दासता की भयानक आशंका में डूब गया। उस की इस विवशता का सच्चा उद्‌घाटन छायावादी साहित्य में हुआ है।

यह कहना अनावश्यक होगा कि उक्त छायावाद व्यक्तिवादी पतनोन्मुखी मन की विवशता का परिचायक ही है जिस में व्यक्ति ने अपनी मानसिक दासता के लिए अपनी एक मौलिक एवं मधुर दार्शनिक वृत्ति को अपना लिया था। यह दार्शनिक वृत्ति वस्तुतः कुण्ठाग्रस्त मन की भाषा के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकी।

किन्तु शेखर : एक जीवनी में इस वैयक्तिकता ने अपना रूप बदला। शेखर एक व्यक्तिवादी पात्र है। किन्तु उस का व्यक्तिवाद एक दास मन का रुदन नहीं है। अपितु वह एक शोषित व्यक्ति की विद्रोहमयी वृत्ति का अंकन है। शेखर वह व्यक्ति है जो प्रचलित मान्यताओं के खोखलेपन को देख कर उन के प्रति अपनापन समर्पित नहीं करता है। बल्कि वह नयी मान्यताएँ गढ़ता है, पुरानी से लड़ता है; उन से घृणा करता है, उन्हें तोड़ फेंकने की चेष्टा करता है। उसे विद्रोह के द्वारा अपनी माँगों का महत्त्व समझाना आता है; वह 'रिरियाता' नहीं और न भीख ही माँगता है।

शेखर का यह व्यक्तिवाद वस्तुतः नयी चेतना की प्रथम किरन थी जिस ने सारे हिन्दी साहित्य को एक दिशा विशेष की ओर प्रेरित किया। यही वैयक्तिकता कविता क्षेत्र में चिन्ता के बाद तार सप्तक के साथ नये विचार, नयी प्रेरणा और नयी अनुभूति ले कर हिन्दी में आयी। चिन्ता में व्यक्तित्व के गतिरोधी तत्त्वों से उस की टकराहट का अंकन हुआ है। और तार सप्तक में भी सात कवियों के द्वारा यही व्यक्तित्व की टकराहट सामने आयी है।

तार सप्तक का व्यक्तिवाद वस्तुतः शेखर की वैयक्तिकता का ही काव्यात्मक रूप था। दोनों एक वृक्ष की दो भिन्न शाखाओं की तरह हैं जिन की जड़ एक ही है किन्तु विस्तार चित्रता लिये हुए हैं। इस प्रकार हिन्दी का यह व्यक्तिवाद हमारे मन की प्रगति का मेरुदण्ड बन कर सामने आया। ये सातों कवि अपनी-अपनी विचार-सरणि के द्वारा जीवन को उस की यथार्थता के साथ समझना चाहते थे। इसी विद्रोह के कारण उन की कविता छायायुगीन क्रन्दन-गीत से भिन्न एकदम नये छन्द और नये वर्ण्य विषयों से आविर्भूत हुई। तार सप्तक का प्रत्येक कवि भाव, भाषा, छन्द आदि प्रत्येक अभिव्यक्ति के माध्यम को नये रूप देने का प्रयत्न करता है। किन्तु यह भाव-रूप को जानने का प्रयत्न भी बलदायक चेतना देने में असमर्थ रहा। क्योंकि फ़ासिज़्म अपने नितान्त नंगे स्वरूप से वीभत्स फूत्कारें करता हुआ दूसरा महायुद्ध ले कर सिर पर आ सवार हुआ था। उस समय व्यक्तिवादी बातों में आस्था के लिए स्थान लब्ध होना कठिन था। तार सप्तक का कवि इसी लिए कुहरे-ढके चाँद में अपने व्यक्तित्व के प्रकाश के दर्शन करता है। 'दिन का बुख़ार' और 'रात्रि की मृत्यु' की चेतना उसे कण्टकित करने लगती है। वह इकाई को खण्ड-खण्ड होता हुआ देख कर शंकित हो उठता है और आत्म-विस्मृत। और पूछने लगता है, 'कौन-सा पथ है ?' वह घोर अन्तर्मुखी हो जाता है और उस के कण्ठ से चीत्कार फूट पड़ती है।

तार सप्तक में इन्हीं चीत्कारों का प्राधान्य है। किन्तु इस नये साहित्यिक स्वरूप को केवल चीत्कारों की ढेरी बन कर समाप्त नहीं होना है। उसे अपनी वास्तविकता से परिचित होना है। किन्तु यह तो तभी हो सकता है जब कि व्यक्ति-बिन्दु अपनी सामाजिक चेतना से जागरूक हो कर आत्म-संघर्षमें न पड़े किन्तु समाज की प्रगतिशील शक्तियों के रुख़ को समझ कर उन से जूझने के लिए अपनी आत्मीयता का रक्त दे और उन्हें सबल बनाये। वह अपनी वैयक्तिकता को इतना विशाल बनाये कि समाज की सारी आवश्यकताएँ उस में आ समायें और उस की वाणी समाज के उस वर्ग की गीतिका बन सके जो सच्चा समाज है।

जब व्यक्तित्व इतना विस्तृत हो जाता है तो उस में फिर से साहित्यिक नवीनता को प्रोत्साहन मिलता है। नये अर्थों वाले नये शब्द और नयी भावनाओं वाले नये छन्द आत्माभिव्यक्ति के आभूषण बन जाते हैं। कविता अपनी विशाल अमूर्तता के कारण समाज की व्यापक अनुभूतियों को स्पर्श करने की, उन्हें प्रेरित करने की क्षमता रखती है। इसी से कविता में चिरस्थायित्व और सर्वदेशीयता एवं सर्वलोकप्रियता होती है। किन्तु सामाजिक विकास अथवा वाता-

वरण का अन्तर भी उस को नया रूप देने का प्रधान कारण बन जाता है। समाज के विकास से मन की अनुभूतियों को भी विस्तार मिलता है। और मन का विस्तार अपनी अभिव्यक्ति के लिए भाषा में तथा अभिव्यक्ति-शैली में भी नयापन जोड़ता है। नये शब्द, नये छन्द और अभिव्यक्ति के लिए नये प्रयोग, कवि के लिए लाचारी हो जाती है। अनुभूतियों का लावा जब पिघल कर फूट पड़ने को उतारू हो जाता है तो फिर प्रचलित मान्यताएँ अपने-आप टूट पड़ती हैं और नयी कविता नये संगीत में अवतरित होने लगती है। नयी कविता के लिए नये छन्द उस के बन्धन नहीं बल्कि उस की सुविधा होती है अनुभूति को आकार देने का एक सरल और स्वाभाविक मार्ग। इस लिए नये शब्द, और पुराने शब्दों के नये अर्थ, नयी अनुभूतियों की नयी मूर्तियाँ होती हैं जिन का जन्म सामाजिक व्यक्तित्व से होता है।

किन्तु मेरी ये सारी बातें मेरी कविता में कहाँ तक लागू होती हैं यह बतलाना मेरे बस से बाहर की बात है। क्योंकि भौतिक संसार पर ही मानसिक जगत् की स्थिति आधारित है और मैं आज के विश्व में शरीर धारण कर के मनसा आगत में रह सका हूँ यह कैसे कहूँ? किन्तु इतना तो अवश्य है कि मैं अपनी सामाजिक स्थिति के वर्तमान से पूर्णतया परिचित हूँ और उस के प्रति ईमानदार रहना भी मैं ने चाहा है।

तार सप्तक क्योंकि कविता के नये रूप का सौन्दर्य है अतः उस के सन्दर्भ में मैं अपनी एक बात कहना आवश्यक समझता हूँ। वह यह कि तार सप्तक के कवि की सामाजिक स्थिति और उस के बुद्धिवाद ने उस को अन्तःसंघर्ष दिया और मुझे उस बुद्धिवादिता से बाह्य संघर्ष के लिए प्रेरणा मिली। तार सप्तक के कवि की जिस विचारधारा ने अपनी ही आलोचना सिखायी, जिस से वह नकारात्मक बन गया, मुझे उस विचारधारा ने प्रगतिशील शक्तियों से सामंजस्य करने के लिए उन्मुख किया। तार सप्तक के कवि के लिए निसर्ग एक आत्म-भर्त्सना का स्थान बना, मेरे लिए प्रेरणा-भूमि। क्योंकि निसर्ग की गोदीमें सर्व-हारा वर्ग के कर्मक्षेत्र एक गाँव में मेरा जन्म हुआ, अतएव उस निसर्ग को केवल दूर से देख कर उस से ह्रासोन्मुख भावनाएँ मैं ने नहीं पायीं। इसी कारण मेरी कविताओं में प्राकृतिक उपादानों की झलक मिलती है। मेरी प्रतीक-व्यंजनाओं के प्रकृति-प्रदत्त होने का भी यही कारण है; इस के उदाहरण पाठक स्वयं देख सकेंगे।

मेरी मान्यताएँ :

(१) कविता के प्रतीक यथासाध्य जीवन के सान्निध्य से लिये जाने

चाहिए। प्रकृति स्वयं सौन्दर्य की प्रतिमा है। भारतीय कृषक के लिए वह एक वरदान है जो कविता के अन्तर्बाह्य स्वरूप के निखार में योग दे सकता है।

(२) भाषा जीवन और समाज का एक प्रबल शस्त्र है, किन्तु उसे जीवन से अलग हो कर नहीं, जीवन में ही रहना है। यदि कविता की भाषा दुर्बोध रही तो उस का कर्म—अर्थात् लड़ने में मनुष्य का सहायक होना—अधूरा ही रह जाता है। इस लिए ग्राम-गीतों के शब्द और लय मुझे प्रिय हैं।

(३) पुरानी मान्यताओं, पुराने शब्दों, पुरानी कहावतों को नये अर्थ से विभूषित कर के कविता में प्रयोग करने से पाठक की अनुभूतियों को छूने में सहायता मिलती है।

कविता एक सपनों का संसार है। और यह संसार यदि नये जीवन के क्रीड़ा-स्थल नये जगत् की रंगीनी से सिक्त हो तो कवि का कर्म और उस का सामाजिक दायित्व सार्थक हो जाते हैं।

एक भावना

इस पुरानी ज़िन्दगी की जेल में
जन्म लेता है नया मन।
मुक्त नीलाकाश की लम्बी भुजाएँ
हैं समेटे कोटि युग से सूर्य, शशि, नीहारिका के ज्योति-तन।
यह दुखी संसृति हमारी,
स्वप्न की सुन्दर पिटारी
भी इसी को बाहुओं में आत्म-विस्मृत, सुप्त निज में ही
सिमट लिपटी हुई है।
किन्तु मन ब्रह्माण्ड इस से भी बड़ा है
जो कि जीवन कोठरी में जन्म लेता है नया बन
आज इस ब्रह्माण्ड में ही उठ रहा है
प्रेरणा का जन्म जीवन-भरा स्पन्दन-भरा
आषाढ़ का सुख-पूर्ण घन।
रुग्ण जन-जन,
युद्ध-पथ पर लड़खड़ाता हाँफता
हर चरण पर भीति से बिजली सरीखा काँपता
तोड़ने आतुर हुआ यह क्षुद्र बन्धन
आँज कर पीले नयन में ज्योति का धुँधला सपन।
जल रहीं प्राचीनताएँ बाँध छाती पर मरण का एक क्षण।
इस अँधेरे की पुरानी ओढ़नी को बेध कर
आ रही ऊपर नये युग की किरण।

मुक्ति के आभास

क्षिति दिगंचल चूमता आकाश,
दिशि-विदिशि की प्राण-धारा चेतना की मुरलिका से
शून्य वन गुंजित, नया रव आज भव में भर चला।
उठ रहे श्रावण घटा से प्रिय-मिलन क्षण
जगमगाते हर निमिष में मुक्ति के आभास
ज्योति अब लेने लगी है जागरण की साँस।
एक दो नक्षत्र रह-रह
सो रहे अपनी व्यथा कह।
घुल रहा तम
दूर गुम-सुम प्राण तुम।
अधजगी-सी भैरवी स्वर भर रही हो
और भिनसारा पुलक कर बाँटता है प्यास।
मुक्ति में जीवन नहा कर
हर दिशा में फेंकता है
नव-सृजन के फूल भर-भर।
और टूटे कर बढ़ा कर झेलते खण्डहर
अजानी आस।
बाल पाँखी तोड़ पिंजर
खोजने निज जीर्ण कोटर
वायुमण्डल चीरता उड़ जा रहा है ले नया विश्वास।
सृष्टि के सौन्दर्य से सज्जित नया आकाश।

नेहरूजी के प्रति

क्षुब्ध वसुधा ।
लू बवण्डर
पीत पर्णों के विकट तूफ़ान छाये हैं
गगन से वसुधरा तक ।
घूमती सूखी, दुखी, भूखी, भयानक आँधियाँ
उजड़े हुए उद्यान, सुखमय झोंपड़े,
कुटिया महल के शीश पर ।
फट गयी छाती, दरारें पड़ गयी हैं
उर्वरा शस्या धरा के वक्ष पर ।
कण्टकों की भीड़ ।
लम्बे चीड़ तक के नीड़ सब ख़ाली पड़े हैं ।
गिर गये पक्षी सुनहली पाँख वाले
आज असमय की भयानक ऊष्ण भाँपों ने
झुलस उन का दिया तन
भुन गया जीवन सदा को ।
आज केवल एक तू ही छा रहा सूखे गगन में
श्याम घन ।
कोटि मानव की दुखी आँखें लगीं तुझ पर
उतर बेख़ौफ़ नीचे
निज हृदय की स्नेह-गरिमा बिन्दु को बरसा यहाँ
कर रहा जो भार तन-मन पर वहन
दृढ़ लगन से तू रहा उस को सँभाल ।
अब न बनना मोम का पर्वत
न दबना भार से ।
क्योंकि तेरी छाँह में
मासूम औ' सुकुमार बच्चे

स्नेह-ममता-मूर्ति माँ-बहनें वतन की
ले रही हैं निज पनाह।
है जिन्हें विश्वास का उल्लास जीवन-शक्तिदाता।
देख तेरे देश के सिर पर खड़ा ऊँचा हिमालय
जो अभी तक है अजेय।
प्रति निमिष नित हिम प्रभंजन
क्रुद्ध साँपों से विकट फूत्कार करते
तिलमिलाते क्रोध से
पथ में मिला सब कुछ चबाते
भीति छाते।
किन्तु उस ने की कभी परवाह उन की?
वह सभी का क्रोध
तम-सा कन्दरा में मूँद कर निश्चिन्त सोता।
तू स्वयं निज देश की शुभ भावना का है
हिमालय।
आज तेरा देश तेरे हाथ की तलवार है
तू उसे जग-शान्ति हित कर में उठा।
आज तेरे देश की मज़लूम जनता की
सबल हुंकार नभ के सात पर्दों पार तक
टंकार लेगी।
हे मनुज के त्राण तेरा स्वागतम्
स्वागतम् शत स्वागतम्!

उठे बादल झुके बादल

उधर उस नीम की कलगी पकड़ने को
झुके बादल।
नयी रंगत सुहानी चढ़ रही है
सब के माथे पर।
उड़े बगुले, चले सारस,
हरस छाया किसानों में।
बरस भर की नयी उम्मीद
छायी है बरसने के तरानों में।
बरस जा रे, बरस जा ओ नयी दुनिया के
सुख सम्बल।
पड़े हैं खेत छाती चीर कर
नाले-नदी सूने।
बिखलते दादुरों के साथ सूखे झाड़
रूखे झाड़।
हवा बेजान हो कर सिर पटकती
रो रही सरसर।
ज़मीं की धूल है बदहोश
भूली आज अपना घर।
किलकता आ, बरसता आ,
हमारी ओ ख़ुशी बेकल।
उधर वह आम का झुरमुट
वहीं हैं पास में पनवट।
किलकती कोकिला, बेमान हो कर देखती जब
चाँद मुखड़े पर घटा-सी छा गयी है लट।
खड़ी हैं सिर लिये गागर
तुम्हारी इन्तज़ारी में

दरद करती कमर, दिल काँपता है
बेक़रारी में ।
जहाँ की बादशाही भी जहाँ पर
सिर झुकाती है
उन्हीं कोमल किशोरी का
दुखा कर दिल
कभी रस ले सकोगे क्या अरे बेदिल ?
उठे बादल, झुके बादल ।

नशीला चाँद

नशीला चाँद आता है।
नयापन रूप पाता है।
सवेरे को छिपाती रात अंचल में,
झलकती ज्योति निशि के नैन के जल में
मगर फिर भी उजेला छिप न पाता है—
बिखर कर फैल जाता है।
तुम्हारे साथ हम भी लूट लें ये रूप के गजरे।
किरण के फूल से गूँथें यहाँ पर आज जो बिखरे।
इन्हीं में आज धरती का सरल मन खिलखिलाता है।
छिपे क्या हो इधर आओ
भला क्या बात छिपने की ?
नहीं फिर मिल सकेगी यह
नशीली रात मिलने की।
सुनो कोई हमारी बात को गर सुनाता है।
मिला कर गीत की कड़ियाँ हमारे मन मिलाता है।
नशीला चाँद आता है।

एक मित्र से

वस्तुतः हम मित्र हैं।
और कुछ होना असम्भव
क्योंकि हम इस सृष्टि की उद्‌भावना के
नित अधूरे ज्वाल में लिपटे
मिलन की माँग करते
दो दिशाओं में लटकते चित्र हैं।
हट गया पर्दा न जाने कौन पल में :
एक मणि जो मृदु किरण के बन्धनों में
बाँध कर हम को कहीं दुबकी पड़ी थी
हो गयी प्रत्यक्ष।
और उस की प्राप्ति भी अब हो गयी है लक्ष्य
जो कभी हम को मिला दे।
मैं इसी आलोक में से
दूर के गिरि-गह्वरों में घूम कर जाती हुई दुर्गम
डगर पर देखता हूँ।
सोचता हूँ तुम इसी आलोक की उज्ज्वल लकीरों के
सहारे यदि चली आओ
मिलें हम फिर; चलें आगे जिधर जाना हमें।
यह हमारा लक्ष्य मणि विधुकान्त है
जो वयस की चन्द्र-किरणों में पिघलता।
झर रहा अमृत कि जिस में हम नहा कर
आज कर लें कल्प मन का।
आज अमृत की नयी मन्दाकिनी आ कर
हमारे द्वार पर
तुम से मुझे, मुझ से तुम्हें आबद्ध करती।
हम नहा लें आज इस में

आज घर आया हमारे यह नया पावित्र्य है।
मित्र हम-तुम मित्र हैं।
विश्व के आदर्श की छोटी भुजाएँ
यह हमारे स्वप्न का ब्रह्माण्ड इस में
किस तरह सिकुड़े-समाये ?
इस लिए आओ बदल लें राह अपनी
चल नयी पगडण्डियों पर
हम नया आदर्श पायें।
यह हमारा पथ छिदा है कण्टकों से
झर चुकी निर्गन्ध सूखी पँखुड़ियाँ बनफूल की।

दूसरे पथ पर पड़ी हैं हड्डियाँ
फैला हुआ भोले जनों का रक्त
द्रौपदी-सी चीखती हैं नारियाँ निर्वस्त्र
जिन के चीर दु:शासन कहीं पर
फेंक आया खींच कर।
मूक शिशुओं के अधर की प्राणदा पय-धार
नभ का चाँद बन कर हो गयी है दूर।
देखती जिन को सरल मृदु स्वच्छ आँखें
उँगलियाँ मुड़तीं पकड़ने
उस गगन के चाँद को।
ले रहा करवट नयी हर बार जीवन
किन्तु तीखा तीर जो उस के हृदय में आ लगा है।
और पीड़ा में नहीं कुछ भान
कौन-सा है मोड़ पथ में कुछ न इस का ध्यान
हम इसी पथ पर चलें
संसार का दु:ख-दर्द धो दें।
इस हमारी मित्रता के दीप को, एक अभिनय ज्योति
किरनों से सँजो दें।
सोचता हूँ तुम सजीवन
चेतनामय प्राण से सींचो हुई
नव रम्यता के पल्लवों के भार से झुकती हुई

नववल्लरी हो।
और जिस के स्वप्न के सुन्दर सुमन खिल कर निकटतर
झुक रहे मेरे अधर के।
जिन की रम्यता मुस्कान बन बिखरी हुई है।
यह पुरानी बात है
युग-युग पुरानी।
किन्तु आओ, इस पुरानी बात से हम भी नया
आदर्श पायें।
क्योंकि इस में सब नये मन को मिला तब रूप
सब को यह दिखी बन कर नयी अपनी कहानी।
पास आओ, हम इसी से
आज अपना अर्थ पायें।
तोड़ कर सब आड़
हम तुम पास आयें
क्योंकि हम तो मित्र हैं।
मित्र, आओ, अब नया आलोक दें इस दीप को।
यह हमारा आत्मज नैकट्य का सुख
साथ हम को देखने का हठ लिये है,
साथ चल कर हम इसी की चाह पूरी आज कर दें।
जन समुन्दर के किनारे की समय की बालुओं पर
हम युगल पद-चिह्न अपने भी बना दें।
और हम तुम एक हो कर
कोटि जन की सिन्धु-लहरों में मिला दें
आप अपनापन।
हम खड़े हो कर बुभुक्षित फ़ौज में
निज मोरचे पर
सामने के शत्रु दुर्गों के—
क्योंकि पहले तोड़ना है दुर्ग
जिस की गोद में बन्दी हमारी चाहना है।

वर्षा के बाद

पहली असाढ़ की सन्ध्या में नीलांजन बादल बरस गये।
फट गया गगन में नील मेघ
पय की गगरी ज्यों फूट गयी
बौछार ज्योति की बरस गयी
झर गयी बेल से किरन जुही
मधुमयी चाँदनी फैल गयी किरनों के सागर बिखर गये।
आधे नभ में आषाढ़ मेघ
मद मन्थर गति से रहा उतर
आधे नभ में है चाँद खड़ा
मधु हास धरा पर रहा बिखर
पुलकाकुल धरती नमित-नयन, नयनों में बाँधे स्वप्न नये।
हर पत्ते पर है बूँद नयी
हर बूँद लिये प्रतिबिम्ब नया
प्रतिबिम्ब तुम्हारे अन्तर का
अंकुर के उर में उतर गया
भर गयी स्नेह की मधु गगरी, गगरी के बादल बिखर गये।

ग्रन्थि

लिख दिया तुम्हारा भाग्य समय ने
उसी पुरानी क़लम पुराने शब्द-अर्थ से।
उसी पुराने हास-रुदन, जीवन-बन्धन में,
उन्हीं पुराने केयूरों में
बँधा हुआ है नया स्वस्थ मन
नयी उमंगें, नव आशाएँ
नये स्नेह, उल्लास सृष्टि के संवेदन के।
उन्हीं जीर्ण-जर्जर वस्त्रों में नये आप को ढाँक न पाती।
तुम अभिनव विंशति शताब्दि को
जागृत नारी
जिस की साड़ी के अंचल में
बँधा हुआ है वही पुराना पाप-पंक
अविजेय पुरुष का।
नव जीवन के भिसारे में
इस मैली सज्जा में तुम को
हुई नयी अनुभूति जगत की।
बड़े बेग से आज समय की नदी गिर रही
नव जीवन की आग तिर रही।
तुम इस में हो स्वयं समर्पित बही जा रही।
मैं नवीन आलोक बँधा हूँ तुम से
उसी पुरानी क्षुद्र गाँठ में
जीवन का सन्देश, भार बन इस यात्रा का।

शरणार्थी

रात-दिन, बारिश, नमी गर्मी
सबेरा-साँझ,
सूरज-चाँद-तारे
अजनबी-सब
हम पड़े हैं आँख मूँदे, कान खोले।
मृत्यु-पंखों की विकट आवाज़ सुनकर
कौन बोले ?
इस लिए सब मौन हैं।
ये हमारी आँख के पर्दे लदे हैं
रुण्ड-मुण्डों के भयानक चित्र से।

चीख़ और पुकार, हाहाकार
बेघर-बार जन-जन के रुदन के स्वर भरे हैं कान में।
धूम के बादल, लपट की बिजलियाँ घिर रही हैं प्राण में।
कौन जाने यह हुआ क्या ?
और क्या होना अभी है ?
सब तरफ़ विध्वंस की बर्छी उठी है
लक्ष्य जिस का है हमारी ज़िन्दगी की चाह।

आज हम को है मिला क्या ज्ञान का पहला उजाला ?
या बुझे ये दीप तन के ?
और हम सब मर, नरक-वासी हुए।
ये सभी हैं चित्र उस के ही कि जिन का दृश्य था
आँका हुआ इस भाग्य-पत्थर पर हमारे।

दूर तक तम्बू तने हैं।
खेलते बाहर
कटे कर-नाक, टूटी टाँग वाले

दोन बच्चे, बांध उजली पट्टियाँ।
हम पड़े हैं तम्बुओं में
गिन रहे हैं कल्पना के फूल की पँखुरी।
ख़ून में भीगे हुए परिधान अपने
खा रहे हैं धूप उस मैदान में।

याद आता घर
गली, चौपाल, कुत्ते, मेमने, मुर्ग़, कबूतर
नीम-तरु पर
सूख कर लटकी हुई कड़वी तुरई की बेल।
टूटा चौंतरा
उखड़े ईंट-पत्थर।
बेधुली पोशाक पहने गाँव के भगवान
मन्दिर।
मूर्ति बन कर याद की
घर लौटने की लालसा मन में जगाते।
गिर रहो चारों तरफ़ हम-दर्दियों की फुलझड़ी।
पूछता प्रत्येक जन
निर्लज्जता की वह कहानी
जो हमारे वास्ते हो गयी फुड़िया पुरानी
दर्द से भरपूर।
युद्ध की वार्ता सदा होती मनोहर
पर हमें भी चाहिए अब पेट भर कर अन्न।
शक्ति को उत्पन्न करने के लिए औज़ार
कण्टकों को काटने के वास्ते हथियार।
ओ दया के दूत हम को दो फ़कत दो-चार गेंती औ' कुदाली।
हम हमारी इस नयी, माँ-सी धरा के वक्ष में से
खोद कच्ची धातु अपने श्रेय के सिक्के बना लें।
इस नये आकाश जल औ' वायु के आधार पर
फिर से सृजन के बीज डालें।
सुख-संगीत की लहरें बहा लें।
दो हमें विश्वास अपने बाहु बल का।

हम तभी आगे बढ़ा हैवानियत की राख को
सात सागर पार डालें।
हम हमेशा बन्दियों के वस्त्र-सी यह शरण की
'याचना सज्जा' पहन
जीते नहीं रह पायेंगे।

शिशिरान्त

हो चुका हेमन्त
अब शिशिरान्त भी नज़दीक है।
पात पीले गिर चुके तरु के तले
आज ये संक्रान्ति के दिन भी चले।
नाश का घनघोर नक्कारा
सुबह के आगमन की गूज दे कर
डूबता जाता विगत के गर्भ में।
भागता पतझार अपनी ध्वंस की गठरी समेटे।
पुष्प ग्रीवा में नवोदित सूर्य की सुन्दर किरण ने
डाल दी है बाँह अपनी
दूर के भटके हुए दो प्राण-तन
आज फिर से मिल रहे हँस-हँस गले।
दिग्-दिगन्तों में बसन्ती आवरण प्रसरित हुआ
छू लिया चैतन्य ने प्रत्येक कण।
जागता जन में अडिग विश्वास
सुख आभास भरता रंग की रेखा
किरण जैसे नये घन में अनोखे रंग भरती।
ज्यों अषाढ़ी मेघ की बौछार
सूखी, चिर-तृषा-विह्वल धरा को।
सजल कर सौरभ पिलाती
आज ऐसे हो किया स्वीकार
जग ने प्यार जन का।
अर्थ जीवन को मिला फिर
काम के क्षण मिल गये।
ओ जगत के दीन जन
अपने अडिग विश्वास का सूरज प्रकाशित हो गया :

अब शिथिलता को विदा दो
जा चुके क्षण अब विवश आराम के।

साफ़ कर लो
द्वार, घर, गलियाँ नगर की ग्राम की।
खेत का, खलियान का कचरा समेटो
अब नयी सुन्दर फ़सल के बीज के अंकुर निकलना चाहते हैं।
तोड़ दो यह बाँध
जिस को बाँध कर
रोक दी है धार की गति।
और जिस के तट अँधेरे में मनुज का
रात भर शैतान अपने जाल में करता रहा संहार।
वह महामानव हमारा इस बँधे जल के कहीं
तल में प्रगति की राह पाने खो गया है।
दे चुके हम मूल्य भारी, इस भयानक भूल का।
इस लिए रोको न तुम अब यह प्रवाहित वेग—
मत करो गन्दी अरे जन-जान्हवी पोखर बना कर।
तुम उसे फिर से सृजन की राह पर लाओ
भगीरथ!
लक्ष्य तक फैली डगर के कण्टकों के डंक तोड़ो
कन्दरा के गर्भ में व्याकुल बिलखता है तुम्हारा विश्व
तुम इसे विश्वास दो।
इन्सानियत की ज्योति दो।

अब उठो, कन्धे मिला कर
फिर नया जीवन बसाओ
दिग्-दिगन्तों में वसन्ती वायु का परिधान फैला।
गल चुके सब शीत के उत्तुंग भूधर।
फिर नयी यात्रा करो आरम्भ, अब शिशिरान्त भी
नज़दीक है।

शमशेरबहादुर सिंह

शमशेरबहादुर सिंह

•

शमशेरबहादुर सिंह : जन्म, देहरादून, ३ जनवरी १९११, मध्यवर्ग के जाट परिवार में। पिता, स्व० चौधरी तारीफ़सिंह, एलम (मुज़फ़्फ़रनगर) निवासी, कलक्टरी में चीफ़ रीडर थे; गोंडा, देहरादून, बुलन्दशहर रहे। शादी देहरादून, १९३०। सन् १९३४ में पत्नी का देहान्त। बी. ए. इलाहाबाद से १९३३ में किया। सन् १९३५-३६ में वकील। स्कूल ऑव आर्ट में चित्रकला का अभ्यास। सन् १९३८-३९ में रूपाभ में काम। सम्पादक, 'कहानी', १९४१-४२, सम्पादक, 'नया साहित्य' बम्बई, १९४६-४७।

रचनाएँ : उदिता, बात बोलेगी, हम नहीं, कुछ कविताएँ, कुछ और कविताएँ, (कविता-संग्रह) दोआब, (लेख-संग्रह)

''छोटा था, जब पिता जी रोज़ रामायण का ऊँचे स्वर से पाठ करते थे। देखा-देखी मैं भी कभी-कभी करने लगता। शायद छठी में था। जब एक बार मेरे सब से छोटे मामा जी ने 'हैमलेट' का प्रेतात्मावाला सीन इस तरह पढ़ कर सुनाया था कि उस का एकान्त भयानक विस्मय बचपन को यादों से अमिट-सा हो गया। मेरे और एक मामा जी आर्टिस्ट थे। वे रामलीला में हिस्सा लेते और उस के लिए स्टेज के परदे पेण्ट करते। नाना जी, जो स्थानीय तहसीली स्कूल से पेन्शन पाते थे, वहाँ फ़ारसी के शिक्षक रह चुके थे। मुझे याद है वह ग़ालिब और शेख सादी के बड़े भक्त थे। ननिहाल में 'अलिफ़ लैला' की एक प्रति थी; एक साल गर्मियों की छुट्टी भर उस क़ो चुरा कर पढ़ा। पिता जी को स्वयं लम्बे-लम्बे अफ़साने पढ़ने का शौक़ था, और वह हफ़्तों एक-एक कथा बड़े रोचक ढंग से विस्तार के साथ सुनाते।

''आठवीं के कोर्स में टेनिसन की 'लोटस ईटर्स' कविता थी; एक मजबूर, मादक उदासी की चीज़। डी. ए. वी. कॉलेज, देहरादून में पं० हरिनारायण जी मिश्र ने पहले-पहले अँगरेज़ी कविता के उदात्त सौन्दर्य से मुझे परिचित किया और शीघ्र ही टेनिसन मेरा आदर्श बन गया, और हाईस्कूल पहुँचते-पहुँचते साथ-ही-साथ, इक़बाल भी। तभी 'परिमल' और 'मतिराम ग्रन्थावली' के बहाने हिन्दी के

नये-पुराने काव्य रस का कुछ स्वाद चखा। ठाकुर पर लिखी एडवर्ड टामसन की पुस्तक ने मेरे सामने कविता की जैसे एक नयी दुनिया का द्वार खोल दिया। उस के बाद बहुत मुद्दत तक 'निराला' का 'रवीन्द्र कविता कानन' मेरी अत्यधिक प्रिय पुस्तक रही।

'इलाहाबाद' युनिवर्सिटी में आया तो केदार, नरेन्द्र और वीरेश्वर का साथ मिला, साथ ही कविता की तरफ़ नया उत्साह। उस समय हमारे भावुक हृदयों में, मैं समझता हूँ, पन्त और महादेवी की कविता एक तूफ़ान की तरह आयी। सन् '३३ में मैं ने बड़े परिश्रम से 'परिमल' को समझने के लिए नोट तैयार किये। हाली, इक़बाल और फ़ानी को खास शौक़ से पढ़ा। ग़ज़लें भी कहना शुरू की। उन्हीं दिनों अँगरेज़ी कविता का एक संग्रह पायनियर प्रेस से प्रकाशित हो जाता, अगर किसी तरह सिर्फ़ प्रिण्टिंग का खर्च जुटा पाता। बाद में वह संग्रह भी नष्ट हो गया। एक बार क्लास में इलियट और कमिंग्स की दो एक मशहूर कविताएँ पढ़ कर सुनायी गयीं : खोखले लोग, लाल मोरचा। सन् '३४ की बात है। उन्हों ने मुझे कविता में एक विस्तार, एक नयी युक्ति-सी और जीवन के नाटक तत्त्व का आभास दिया। टेक्नीक में एज़रा पाउण्ड शायद मेरा सब से बड़ा आदर्श बन गया।

"सन् '३७ में 'बच्चन' की प्रेरणा से खिंच कर दोबारा इलाहाबाद आया। एम. ए. के इम्तहान में तो न बैठा, मगर हाँ, नये सिरे से जम कर हिन्दी पद्य-रचना का अभ्यास शुरू कर दिया। बनारस में शिवदान सिंह चौहान के सत्संग से साहित्य के प्रगतिशील आन्दोलन में कुछ दिलचस्पी पैदा हुई। सन् '४५ में नया साहित्य के सम्पादन के सिलसिले में बम्बई गया। वहाँ कम्युनिस्ट पार्टी के संगठित जीवन में, अपने मन में अस्पष्ट-से बने हुए सामाजिक आदर्शों का मैंने एक बहुत सुन्दर सजीव रूप देखा। मेरी काव्य प्रतिभा ने उस से काफ़ी लाभ उठाया।

अब नया परिवर्तन मेरी कविता में नहीं आ सका है। जितना कुछ आया भी है, बहुत नाकाफ़ी है।"]

---

१. फिर भी जो रचना-शैली मैं सन् '३६ से अपनाता चला आया था उस को कोशिश के बावजूद भी सीधा स्पष्ट और स्वस्थ रूप में नहीं दे सका, हालाँ कि बम्बई आने के बाद नये पत्ते के 'निराला' वक़्त की आवाज़ के 'जोश' चन्द्रभूषण त्रिवेदी, रामकेर, मायाकोव्स्की और लोर्का मेरे आदर्श बन गये थे। मेरी शैली पर 'निराला' के अलावा एक के बाद एक और घुल-मिल कर भी, इन कवियों की शैली का जिन की दो-चार आठ-दस कविताएँ मैंने पढ़ ली थीं, काफ़ी असर था; शायद इस लिए कि अपनी भावनाओं की भाषा मुझे एकदम इन में मिल गयी : वर्लें (अनुवाद में), लारेन्स, इलियट, पाउण्ड, कमिंग्स, हापकिंस, ईडिथ सिटवेल, डायलन टॉमस।

वक्तव्य

●

पृष्ठ-भूमि

अपनी कविता में मेरी खास कोशिश यह रही है कि हर चीज़ की, हर भावना की जो एक अपनी भाषा होती है जिस में वह कलाकार से बातें करती है, उस को सीखूँ। इस तरह की कोशिश जहाँ-जहाँ भी कामयाब होती देख सका, मैं ने उस से असर लिया, ज़्यादातर अँगरेज़ी की मौजूदा कविता से, खास तौर से टेकनीक में।

मेरी भावनाओं पर सब से गहरा असर पड़ा है परिमल और अनामिका का। पन्त ने भी मुझे पहले-पहल कविता की भाषा दी। उर्दू ग़ज़लियत और उलझे हुए भावों को लिये हुए सपनों की-सी चित्रकारी और कुछ चलती हुई लयों और इधर आ कर बात-चीत के लहजों और उस के उतार-चढ़ाव को भी मैं ने अपनी कविता के रूप और छन्द का आधार बनाना चाहा है।

जन-आन्दोलनों को समझने और उन का एक धुँधला-सा रूप भी अपनी भावनाओं के रंग में बाँधने की कुछ कोशिश मैं ने पिछले सालों में की है। इस 'ऊँच रुचि और मति' को अपनी कविता में अभी तक अच्छी तरह पकड़ न पाने के दो कारण रहे हैं। एक, जनता के हृदय से मेरी दूरी; दूसरा मार्क्सवाद का उथला ज्ञान; खास कर किसान-मज़दूर के संघर्षों के इतिहास के ज्ञान की कमी।

आगे की कविता

कला का संघर्ष समाज के संघर्षों से एकदम कोई अलग चीज़ नहीं हो सकती और इतिहास आज इन संघर्षों का साथ दे रहा है। सभी देशों में, बेशक यहाँ भी, दरअसल आज की कला का असली भेद और गुण उन लोक-कलाकारों के पास है, जो जन-आन्दोलनों में हिस्सा ले रहे हैं। टूटते हुए मध्यवर्ग के मुझ-जैसे कवि उस भेद को जहाँ वह है वहीं से पा सकते हैं, वे उस को पाने की कोशिश में लगे हुए हैं।

मेरी कविताओं में यह कोशिश उदिता के आखिरी अधिकांश भाग में

और पिछले दो-तीन सालों की कविताओं के संग्रह बात बोलेगी, हम नहीं में मौजूद हैं। इस के बीज मेरी सन् '३८-३९ की कविताओं में भी मिल जायेंगे, हालाँकि उस वक़्त से सन् '४२ तक मेरा रुझान ज़्यादातर क्या बिलकुल अपनी ही अकेली दुनिया के अन्दर खिंचते चले जाने की तरफ़ रहा। उस एकाकीपन की घुटन और उसी की मजबूरियों से पैदा होने वाले पलायन के सपनों और गीतों से छुटकारा पाने के लिए धीरे-धीरे जो संघर्ष मेरे अन्दर सन्' ४२-४३ में शुरू हुआ, वह मेरे चारों तरफ़ की ज़िन्दगी में बहुत पहले पैदा हो चुका था। हिन्दी साहित्य में इस का सबूत पन्त जी की युगवाणी ही नहीं, 'निराला' जी का कुल्लीभाट बिल्लेसुर बोकरिहा, भगवती बाबू की भैंसागाड़ी और नरेन्द्र जी की यकुम मई भी है। बल्कि इन सबों से बहुत पहले ख़ुद प्रेमचन्द की आखिरी कहानी कफ़न उर्दू में 'जोश', 'सागर', 'मजाज़' की कविताएँ कृश्नचन्दर के अफ़साने।

सामाजिक चेतना के साथ-साथ उठता हुआ हिन्दी साहित्य में प्रतिभा का यह ज्वार जब सन्' ४२-४३ में बैठने लगा, तो दूसरी लहर में और दूसरे लोग तेज़ी के साथ उठ कर आगे आये। 'सुमन', केदार नाथ अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, चन्द्रभूषण त्रिवेदी, 'अगियाबैंताल', 'गोराबादल' और नागार्जुन; और कितने ही लोक-कवि, स्व० बिसराम, भिखारी ठाकुर, रामकेर, प्रेमदास और खेम सिंह नागर जो लोकभाषा और लोक-भावों के सुन्दर कलाकार हैं, पुरानों में 'निराला' ही अकेले इन सबों के साथ आये। इन में सामाजिक सच्चाई और नये लोकतन्त्र की शक्तियाँ ज़्यादा खुल कर और दृढ़ता से बोलती हैं; इन में कला का सुघड़पन पिछलों-जैसा चाहे अभी न हो मगर यह जो विशेष कर लोक-कवियों की, क्रान्तिकारी कविता बिहार और यू० पी० में गूँजने लगी है, उस का कुछ अर्थ है, यानी कि जनता अब एक स्वतन्त्र राष्ट्र की तरह अपने मूल अधिकारों का उपभोग करना चाहती है इस लिए इस कविता का स्वर जन-मन की भावनाओं को छूता है। वही मसलन्, 'गोरा बादल' और नागार्जुन की कविता में आ कर आज ठेठ खड़ी बोली हिन्दी का नया तगड़ा और ख़ासा मँजता जाता हुआ स्वर है। आगे मैं इसी के साथ अपने स्वर का योग देना चाहता हूँ।

नयी कविता

अव्वल तो शायद यह निवेदन कर देना ज़रूरी या मुनासिब हो कि मेरी कविता खड़ी बोली हिन्दी में कुछ हद तक नयी हो सकती है। मगर मसलन् अँगरेज़ी में उस का नयापन, अगर बहुत पुराना नहीं, तो कुछ-न-कुछ पुराना, कमज़कम खासी अच्छी तरह जाना-पहचाना हुआ ज़रूर माना जायेगा; और यह

कि इस के बहुत-से रंग रूप मैं 'निराला' में भी शुरू से देखता हूँ। अज्ञेय को जिन्हों ने ध्यान से पढ़ा होगा या गजानन मुक्तिबोध को भी, वे इस से बहुत न चौकेंगे। शहर के मध्यवर्गी आधुनिक पाठक तो और भी कम। खैर।

कविता का जो रूप मैं ने अपने लिए पाया है उस तरह की नयी कविता में छह बातों की तरफ़ ध्यान दिलाना चाहूँगा।

१. सच्चाई का अपना ख़ास रूप

कविता में हम अपनी भावनाओं की सच्चाई खोजते हैं। उस खोज में उस सच्चाई का अपना ख़ास रूप भी हमें मिलना ही चाहिए, जिस हद तक भी मुमकिन हो। क्योंकि किसी भी चीज़ का असली रूप उस चीज़ से अलग तो सम्भव नहीं।

२. ललित कलाएँ काफ़ी एक-दूसरे में समोयी हुई हैं

तसबीर, इमारत, मूर्ति, नाच, गाना और कविता—इन सब में, बहुत कुछ एक ही बात अपने-अपने ढंग से खोल कर या छिपा कर या कुछ खोल कर कुछ छिपा कर कही जाती है। मगर इन के ये अलग-अलग ढंग दरअस्ल एक-दूसरे से ऐसे अलग-अलग नहीं हैं, जैसे कि ऊपरी तौर से लगते हैं।

३. कवि की ज़ाती दिलचस्पियाँ

यही नहीं, कलाकार के ज़ाती शौक़ और उस की अपनी ख़ास दिलचस्पियाँ भी उस की कला का रूप निखारने और सँवारने में जाने-अनजाने तौर से मदद करती हैं। ये रुकावट भी बन जाती हैं। मगर नयी कला में इन से फ़ायदा उठाया गया है।

४. दूसरी भाषाओं का ज्ञान

दो चार अलग-अलग भाषाओं के अलग-अलग मिज़ाज की, और उन की अलग-अलग तरह की रंगीनियों और गहराइयों को जानकारी हमें जितना ही ज़्यादा होगी उतना ही हम फैले हुए जीवन और उस को झलकाने वाली कला के अन्दर सौन्दर्य की पहचान और सौन्दर्य की असली क़ीमत की जानकारी बढ़ा सकेंगे। भाषाओं की जानकारी के पीछे यह दृष्टिकोण कम से कम नये कलाकार के लिए तो बहुत काम का है।

५. भाषा और कला के रूपों का कोई पार नहीं है

हम-आप ही अगर अपने दिल और नज़र का दायरा तंग न कर लें तो देखेंगे

कि हम सब की मिली-जुली ज़िन्दगी में कला के रूपों का खज़ाना हर तरह बेहिसाब बिखरा चला गया है। सुन्दरता का अवतार हमारे सामने पल-छिन होता रहता है। अब यह हम पर है, खास तौर से कवियों पर, कि हम अपने सामने और चारों ओर की इस अनन्त और अपार लीला को कितना अपने अन्दर बुला सकते हैं।

इस का सीधा-सादा मतलब हुआ अपने चारों तरफ़ की ज़िन्दगी में दिलचस्पी लेना, उस की ठीक-ठीक यानी वैज्ञानिक आधार पर (मेरे नज़दीक यह वैज्ञानिक आधार मार्क्सवाद है) समझना और अनुभूति और अपने अनुभव को इसी समझ और जानकारी से सुलझा कर स्पष्ट कर के, पुष्ट कर के अपनी कला-भावना को जगाना। यह आधार इस युग के हर सच्चे और ईमानदार कलाकार के लिए बेहद ज़रूरी है। इस तरह अपनी कला-चेतना को जगाना और उस की मदद से जीवन की सच्चाई और सौन्दर्य को अपनी कला में सजीव से सजीव रूप देते जाना : इसी को मैं 'साधना' समझता हूँ। और इसी में कलाकार का संघर्ष छिपा हुआ देखता हूँ। कला में भावनाओं की तराश-खराश, चमक, तेज़ी और गरमी सब उसी से पैदा होंगी, उसी 'संघर्ष' और 'साधना' से, जिस में अन्तर-बाहर दोनों का मेल है। कला के इस सौन्दर्य और उस से मिलने वाले आनन्द के शत्रु वे जहाँ और जिस भेष में भी होंगे, जो भी होंगे—परिस्थितियाँ, व्यक्ति या दल—हर ईमानदार कलाकार के शत्रु होंगे। क्योंकि आज, घोर और बढ़ती हुई अन्धी प्रतिक्रिया के रहते, चारों ओर अबाध फैले जीवन की पूरी शक्तियों और सारे सौन्दर्य को कलाकार मुक्त रूप से कैसे दरसा सकेगा?····यहीं से उठती है सच्चे प्रगतिशील साहित्य की बहस और उस की ज़िम्मेदारियाँ।

कला जीवन का सच्चा दर्पण है। और आज के सभी देशों के जीवन में कायापलट तेज़ी के साथ आ रही है; क्योंकि आज किस को नहीं दिखाई दे रहा है कि यह क्रान्ति का युग है। थके हुए पुराने कलाकार की आहों को भी उस से चमक मिलती है। नयों की तो वह काव्य-सामग्री ही है; क्योंकि वही उन के और उन के आगे की पीढ़ियों के लिए नये, उन्मुक्त-सुखी, आदर्श जीवन की नींव डालने वाला है।

■

बात बोलेगी

बात बोलेगी
हम नहीं
भेद खोलेगी
बात ही।

सत्य का मुख
झूठ की आँखें
क्या—देखें!
सत्य का रुख़
समय का रुख़ है:
अभय जनता को
सत्य ही सुख है,
सत्य ही सुख।

दैन्य दानव; काल
भीषण; क्रूर
स्थिति; कंगाल
बुद्धि; घर मजदूर।

सत्य का
क्या रंग?
पूछो
एक संग।
एक—जनता का
दुःख: एक।
हवा में उड़ती पताकाएँ
अनेक।

दैन्य दानव। क्रूर स्थिति।
कंगाल बुद्धि। मजूर घर भर।
एक जनता का अमर वर।
एकता का स्वर।
—अन्यथा स्वातन्त्र्य इति।

घिर गया है समय का रथ

मौन सन्ध्या का दिये टीका
रात
काली
आ गयी
सामने ऊपर, उठाये हाथ-सा
पथ बढ़ गया।

घेरने को दुर्ग की दीवार मानो—
अचल विन्ध्या पर
कुण्डली खोली सिहरती चाँदनी ने
पंचमी की रात।
घूमता उत्तर दिशा को सघन पथ
संकेत में कुछ कह गया।

चमकते तारे लजाते हैं
प्रेरणा का दुर्ग।
पार पश्चिम के, क्षितिज के पार
अमित गंगाएँ बहा कर भी
प्राण का नभ धूल-धूसर है।

भेद ऊषा के दिये सब खोल
हृदय के कुल भाव,
रात्रि के, अनमोल।

दुःख कढ़ता सजल, झलझल।
आँख मलता पूर्व स्रोत।

पुनः
पुनः जगती जोत।

घिर गया है समय का रथ कहीं।
लालिमा से मढ़ गया है राग।
भावना की तुंग लहरें
पन्थ अपना अन्त अपना जान
रोलती हैं मुक्ति के उद्गार।

घिरते आकाश को

घिरते आकाश को ताकता हताश :
गहरे नभ में चाँद खोता जाता है;
अन्धकार
चुप-चुप हँसता आता सब ओर।

मैं सुहाग दूँ

(गीत)

धरो शिर
हृदय पर
वक्ष-वह्नि से—तुम्हें
मैं सुहाग दूँ—
चिर सुहाग दूँ !
प्रेम अग्नि से—तुम्हें
मैं सुहाग दूँ ।

विकल मुकुल तुम,
प्राणमयि
यौवनमयि
चिर वसन्त स्वप्नमयि
मैं सुहाग दूँ !
विरह-आग से—तुम्हें
मैं सुहाग दूँ ।

शरीर स्वप्न

मकई से लाल गेंहुए तलुए
मालिश से चिकने हैं।....
सूखी-भूरी झाड़ियों में व्यस्त
चलती-फिरती पिंडलियाँ !....
(मोटी डालें जाँघों से न अड़ें।)
सूरज को आईना जैसे नदियाँ हैं—
इन मर्दाना रानों की चमक
'उन' को खूब पसन्द !....
वह वन शिव का स्थान।
शान्त ज्योति में लय है ध्यान।
नभ-गंगा की शक्ति
सदा बरसती वहाँ।
वज्र गिरि, कमर कठोर
सीधा चढ़ता, ऊर्ध्व दिशा की ओर।
शेष :
नीला सूनापन।

एक मुद्रा से

—सुन्दर।
उठाओ
निज वक्ष
और—कस—उभर।
क्यारी
भरी गेंदा की
स्वर्णारक्त
क्यारी भरी गेंदा की।
तन पर
खिली सारी
अति सुन्दर! उठाओ।
स्वप्न-जड़ित-मुद्रामयि
शिथिल करुण!
हरो मोह-ताप, समुद
स्मर-उर वर :
हरो मोह-ताप—
और-और कस उभर।
सुन्दर! उठाओ।
अंकित कर विकल हृदय पंकज के अंकुर पर
चरण-चिह्न,
अंकित कर अन्तर आरक्त स्नेह से नव, कर पुष्ट, बढ़ूँ
सत्वर, चिरयौवन वर, सुन्दर।
उठाओ निज वक्ष : और—कस उभर!

हे वसन्तवती

दूर है जो आज
उसी यौवन के लिए बन्दी
ढली कोमल कली पाटल की
झुकी–भूल।
हे वसन्तवती,
द्वार के नभ पर तुम्हारे
झुका जो हेमन्त का शिर-भार,
लूट लो उस को।
मैं तुम्हारा थका मादक गान,
दो मुझे आसक्ति में विश्राम।
कौन किस का ! मौन भाव सरल,
थका परदेशी यहाँ मैं दीन,
हास अर्थ-विहीन,
लिये फिरता हूँ अकेला
मूक अपना आज
स्वप्न साज।

विहँसती हो
सान्ध्य करुणा-सी
तुम कहाँ, छवि—
कौन यह सम्बन्ध ?
हृदय-पाटल पर मलिन मेरे
झुकी भूली-सी।
दूर हैं प्रियतम;
तुम भ्रमाती किस पथिक की शाम ?

रुबाई

हम अपने ख़याल को सनम समझे थे
अपने को ख़याल से भी कम समझे थे
'होना था'—समझना न था कुछ भी 'शमशेर'
होना भी कहाँ था वो जो हम समझे थे ।

कुछ शेर

खामोशिए हुआ हूँ मुझे कुछ खबर नहीं,
जाती हैं क्या दुआएँ तेरे आस्ताँ के पार ?

जहाँ में अब तो जितने रोज़ अपना जीना होना है,
तुम्हारी चोटें होनी हैं, हमारा सीना होना है।

अपनी मिट्टी को छिपायें आसमानों में कहाँ,
इस गली में भी न जब अपना ठिकाना हो सका।

हक़ीक़त को लाये तख़ैयुल के बाहर,
मेरी मुश्किलों का जो हल कोई लाये।

बाले दीप

(गीत)

बाले दीप
चतुर नारि ने
पिय आगमन को।

सन्ध्या की पलकें झुकीं,
फैली अलकें भारी
पिय की सुमुखि प्यारी ने
अँगिया से दीप धर
बाले
पिय आगमन को।

दीर्घ निशा की बेला,
रे वह प्रेम की बेला।
एकाकी कवि ही करता उस की अवहेला।

नव रस सनी नारि,
निज तन आँचल सँवार उर
अपने प्यारे को अगोरती
यौवन द्वारे
बाले दीप रे
चतुर नारि ने
पिय आगमन को।

अकेले किस के प्राण

१

अरुण प्रान्त में सुन्दर उज्ज्वल
जिस का सूना निश्चल तारा,
एकाकीपन जिस का सम्बल,
अमा दिवा ! वह किस का प्यारा ?

२

आज अकेले किस के प्राण ?
मेरे कवि के ! मेरे कवि के !
जिस ने जीवन के सम्मान
फूँक दिये आँगन में छवि के !

हे *अगोरती विभा*

हे अगोरती विभा
　　　जोहती विभावरी
हे अमा उमामयी
　　　सावलीन बावरी
मौन मौन मानसी
　　　मानवी व्यथा-भरी ।

हार-हार समझा मैं

हार-हार
समझा मैं तुम को
अपने पार।
हँसी बन
खिली साँझ
बुझने को ही।
एक हाय-हाय की रात
बीती न थी,
कि दिन हुआ।
हार-हार
समझा मैं···

हास बन

हास बन,
मौनतम उसाँस ले,
ढलता वह अश्रु कठिन
जब उदास,—
अन्तर-प्रकाश पा
तब
घुलता
पाहन, मलिन।

एक स्वप्न

कौन आज मुझे ख़ास बात समझाने को
दिल में आता है ?
और दूर से यह गाता है !
"सुनता हूँ, साह कोई मरा,
और एक चोर नहीं डरा, नहीं डरा।
रात हुई ख़तम, दिन जब आलोक से भरा,—
उतरी एक लाल परी
उस को पिलाने को स्वर्ग की लाल मदिरा।
'नहीं, नहीं, नहीं, पिऊँगा—मैं अभी और जिऊँगा।'
ओस चमकी हरी-नीली। दूर तक खेत लहरा।
बोली वह आँखों में, बिजली की भाषा में—
'चल, यहाँ कौन ठहरा !'
सुन यह, स्वप्न-चोर ताकने लगा उदास
नभ ओर, ताकने लगा नभ ओर। ताकने लगा।"

सुन कर मन पछताता है :
आह, मैं चोर न हुआ !
हाय, मुझे कुछ नहीं आता है !
जग से मरने का ही मेरा नाता है !
खाने को, जीवन—पेट दिखलाता है जग में, बस !
हाय, वह बिजली-परी, लाल-लाल मदिरा लिये
मेरे दिल से न उतरी !
जीना तो मुझ को भी आता है !

स्वतन्त्रता दिवस पर—१९४०

फिर वह एक हिलोर उठी—
गाओ !
वह मज़दूर किसानों के स्वर कठिन हठी
कवि हे, उन में अपना हृदय मिलाओ !
उन के मिट्टी के तन में है अधिक आग,
है अधिक ताप :
उस में, कवि हे,
अपने विरह मिलन के पाप जलाओ !
काट बूर्जुआ भावों की गुमठी को—
गाओ !
अति उन्मुक्त नवीन प्राण स्वर कठिन हठी !
कवि हे, उन में अपना हृदय मिलाओ !
सड़े पुराने अन्ध-कूप गीतों के
अर्थहीन हैं भाव, मूक भीतों के—
उन्हें अपरिचय का लांछन दे बिलकुल आज भुलाओ !
नूतन प्राण-हिलोर उठी
तुम, जिस ओर उठी, उठ जाओ !
कवि हे····

भारत की आरती

(१५ अगस्त, १९४७)

भारत की आरती
देश-देश की स्वतन्त्रता देवी
आज अमित प्रेम से उतारती।

निकटपूर्व, पूर्व, पूर्व-दक्षिण में
जन-गण-मन इस अपूर्व शुभ क्षण में
गाते हैं घर में हों या रण में
भारत की लोकतन्त्र-भारती।

गर्व आज करता है एशिया
अरब, चीन, मिस्र, हिन्द-एशिया
उत्तर की लोक-संघ शक्तियाँ
युग-युग की आशाएँ वारतीं।

साम्राज्य पूँजी का क्षत होवे
ऊँच नीच का विधान नत होवे
साधिकार जनता उन्नत होवे
जो समाजवाद जय पुकारती।

जन का विश्वास ही हिमालय है
भारत का जन-मन ही गंगा है
हिन्द महासागर लोकाशय है
यही शक्ति सत्य को उभारती।

यह किसान कमकर की भूमि है।
पावन बलिदानों की भूमि है
भव के अरमानों की भूमि है
मानव इतिहास को सँवारती।

बसन्त पंचमी की एक शाम (१९४८)[1]

१

डूब जाती है, कहीं
जीवन में, वह
सरल शक्ति ···
(म्यान सूनी है
आज)....क्यों
मृत्यु बन आयी
आसक्ति, आज ?

शुष्क हैं पल । अग्नि है घन ।
सुनो वह 'पीयूऽ !—पीयूऽ !'
चिता-सावन कर रहा क्रन्दन ।
मौन है नीलाभ काल ।
(दैव-धन है कवि !)
आज माधव-हास है कितना निराशा-सिक्त !
मौन····तमस वैतरणी विलास ।

२

फूल—
थे;
हो गये···
तुम हे

---

१. श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के निधन पर ।

मौन धारा में
संग उस के,
अमर जिस के गान ।
हे त्रिधाराऽधार मध्य विलास : जन-मनमयी
करुणा के सरल मधुमास :
मुक्ता मुकुल कल उन्मादिनी के हास !

'नमो हे
सुख-शान्ति की
आशा
क्रान्तिमयी !'

माई

१

तरु गिरा
जो—
झुक गया था, गहन
छायाएँ लिये।
अब
हो उठा है मौन करा उर
और भी मौन····
दुख उठा है करुण सागर का हृदय,
साँझ कोमल और भी अपनाव का आंचल
डालती है दिवस के मुख पर।

२

बोलती थी जो उदासी की—
बहन-सी, मा, थकी,
आज वह चुप है, शान्त है; अति ही शान्त है।
होठ में सो गये शब्द,
भाव में खो गये स्वर,
एक पल हो गया कितने अब्द !
मौन है घर।
पूछती है माई
एक बात :
(स्वप्न में वह आयी
हँसी लिये
जागरण की रात)
कौन बात ?

समय साम्यवादी

वाम वाम वाम दिशा
समय—साम्यवादी ।
पृष्ठभूमि का विरोध
अन्धकार-लीन । व्यक्ति—
कुहाऽस्पष्ट हृदय-भार आज, हीन
हीन भाव, हीन भाव, हीन भाव···
मध्य वर्ग का समाज, दीन ।

किन्तु उधर
पथ-प्रदर्शिका मशाल
कमकर की मुट्ठी में—किन्तु उधर
आगे-आगे जलती चलती है
लाल-लाल
वज्र-कठिन कमकर की मुट्ठी में
पथ-प्रदर्शिका मशाल ।

भारत का आत्मराग
भूत और भविष्य का वितान लिये
काल-मान-विज्ञ
मार्क्स मान में तुला हुआ
वाम वाम वाम । दिशा—
समय—साम्यवादी !
अंग-अंग एकनिष्ठ
ध्येय-धीर
सेनानी
वीर युवक

अति बलिष्ठ
वाम—पन्थ—गामी :
समय—साम्यवादी !
लोकतन्त्र-पूत वह
दूत मौन कर्मनिष्ठ
जनता का
एकता-समन्वय वह,
मुक्ति का धनंजय वह
चिर-विजयो वय में वह
ध्येय-धीर
सेनानी
अविराम
वाम-पक्ष-वादी !
दिशा आज—
वाम-पन्थ-वादी !
समय—साम्यवादी !

चुका भी हूँ मैं नहीं

चुका भी हूँ मैं नहीं
कहाँ किया मैं ने प्रेम
अभी।

जब करूँगा प्रेम
पिघल उठेंगे
युगों के भूधर
उफन उठेंगे
सात सागर।
किन्तु मैं हूँ मौन आज
कहाँ सजे मैंने साज
अभी।

सरल से भी गूढ, गूढतर
तत्त्व निकलेंगे
अमित विषमय
जब मथेगा प्रेम सागर
हृदय।

निकटतम सब की
अपर शौर्य्यों की
तुम
तब बनोगी एक
गहन मायामय
प्राप्त सुख
तुम बनोगी तब
प्राप्त जय।

नरेशकुमार मेहता

नरेशकुमार मेहता

●

[नरेशकुमार मेहता : सन् १९२४ में मालव के एक गुजराती परिवार में जन्म हुआ। पिता प्रोलेतेरियत वर्ग के ही कहे जा सकते थे। प्रारम्भ के दिन काफ़ी सुख से बीते, परन्तु कैशोर बहुत कड़वाहट-भरा था, और वह कड़वाहट नरेश के जीवन का एक अंग बन गयी। वह बचपन में ही दो बातों से घृणा करना सीख गया, एक गणित, दूसरा परिवार।

काशी से एम० ए० पास किया। काशी के उन दिनों की याद, "ऐसी है मानो दाँतों तले रेत आ गयी हो। नरेश मूलतः दो तरह का आदमी है : एक तो हर आदमी से दोस्ती करना पर समाज से बहुत दूर रहना। दूसरे हर चीज़ को पीछे छोड़ कर चलते जाना आगे, और आगे। आज वह जिस जगह है वह उसे ज़हर लगती है।"

"उसे दो बातें प्रिय रही हैं। पहली तो यह कि वह वैसा ही घूमता रहे जैसा कि उस ने अप ने बचपन में ख़ानाबदोश लुहारों को अपने बैलों की घण्टियाँ बजाते हुए विन्ध्य की घाटियों में घूमते हुए देखा। क्योंकि उसे एक सजे हुए कमरे से कहीं अधिक किसी तम्बू में केवल पड़े रहना और कुहरे को देखना ज़्यादा अच्छा लगता है। और दूसरी यह कि वह लिखे और; आग लिखे।"

आज वह राजनीति और साहित्य को पर्यायवाची मानता है। लोगों में उस पर अहंवादी एवं व्यक्तिवादी होने का शक किया जाता रहा है, पर इस पर वह यही कह देगा कि काश यह भी हो पाता! अपनी धारणाओं को वह चट्टान की तरह मानता है, और वह कभी-कभी अपनी बात कहते हुए उलझ जानेवाला तथा बेतुका लगनेवाला व्यक्ति भी जान पड़ सकता है। जो भी हो, "नरेश है और अभी आगे रहने को है।"

आकाश वाणी से सम्बद्ध रहे; कुछ समय दिल्ली से कृति का सम्पादन किया; अब इलाहाबाद में रहते हैं।

तीन कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं; चार उपन्यास, दो नाटक और एक कहानी संग्रह भी।]

वक्तव्य

●

वक्तव्य में क्या कहा जाय, यह ऐसा ही प्रश्न है कि तीसरा महायुद्ध होगा कि नहीं? किन्तु इस वक्तव्य वाले प्रश्न को तो किसी तरह भी टाला नहीं जा सकता। भले ही विश्व-युद्ध टल जाय। अपने बारे में क्या कहूँ?

केवल यही कि अभी तक अनाम रहा हूँ। और सन् '३६ से लेकर '५० तक बराबर लिखता रहा हूँ। वर्षा ऋतु की धूप की तरह से मेरी कविताएँ प्रकाशित हुई हैं। मैं खुद अनुभव करता हूँ कि इतना कम प्रकाशन मेरे लिए ही अधिक हानिकर हुआ है। किन्तु इस प्रकार की अनाम अवस्था ने मुझे लोहे की-सी प्रेरणा भी दी है। जब कि साहित्य के छायावादी और प्रगतिवादी खेमों में लगातार भगदड़ मची हुई थी। वे दिन छायावाद की पदच्युति के थे और प्रगतिवाद सिंहासनारूढ़ हो रहा था। अवसरवादी पनपे और खूब पनपे। किन्तु आज चारों ओर शान्ति का वातावरण है। शान्ति से मेरा मतलब है भगदड़ हीनता। अवसरवादी रोमांस का मोह छोड़ न सके थे, इस लिए वे वापस 'कसकन' 'मसकन' गाने लगे हैं। उन क्रान्तिकारी कवियों के घर या तो बाँसुरियाँ बज रही हैं या फिर हंसों की टोलियाँ उड़ रही हैं।

तात्पर्य यह कि यशार्जन के पश्चात् बारीक पलकों के कवि वापस रंगमहलों में लौट चुके हैं। और रहे-सहे लौट रहे हैं।

आज हिन्दी में कोई नियमित रूप से निकलने वाला पत्र नहीं है। हिन्दी साहित्यकारों में व्यक्तिगत प्रयोगवादियों को छोड़ कर कोई भी ऐसी प्रतिभा नहीं है जो युग को मोड़ पा रही हो। हमारे साहित्यकारों को लकवा-सा मार गया है। बहुत-कुछ अजीब-सा ही है चारों ओर।

मुझे क्षमा करें! हिन्दी का उपन्यास मील के पत्थर की तरह तटस्थ हो कर 'गोदान' और 'शेखर' की जगह से एक इंच भी आगे नहीं बढ़ रहा है। नाटकों की अवस्था उस से भी बदतर है। और कविता की तो अकाल मृत्यु-सी हो गयी है।

यह सब कहने का मैं अधिकारी नहीं माना जा सकता; और साथ ही मुझे आप लोगों की दम्भी, क्रोधपूर्ण, उपेक्षा-भरी, तथा सहानुभूति की नानावर्णी आँखें

दीख रही हैं। उन में-से कुछ चाहेंगी कि मेरी वाणी किसी प्रकार दबा दी जाय। किन्तु वसन्त को रंग-छाप, और मनुज को पेशानी के चरागाह में ज़मीन और आसमान का अन्तर है।

यह एक सत्य बात है कि युग तब नहीं बदला था बल्कि युग तो आज बदल रहा है। नयी प्रतिभाएँ अब आ रही हैं। हम से पहले जो नयापन मध्यवर्गीय लाये थे, वह न तो सांस्कृतिक दृष्टि से ही स्वस्थ रक्त का था और न जीवन की दृष्टि से ही।

संस्कृति भ्रामक शब्द है। फिर भी संस्कृति को शोध तो की ही जा सकती है और हम मनुष्य के आदि-काल के काव्य से भावों की विराटता ग्रहण कर के सुन्दर कल्पनाप्रधान साहित्य रच सकते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों में उदाहरण रूप में मेरी 'उषस्' है। ऋतु की इस नित्य-कौमार्य कन्या का मैं प्रतिदिन अपने क्षितिज पर आह्वान करता हूँ। वह हमारे खेतों में अपने पति सूर्य के साथ हमारे बीजों में अपनी गरम-गरम किरनें बो कर गेहूँ उपजाती है।

तो दूसरी ओर 'मेघ में' तथा 'समय देवता'-जैसी लम्बी कविताएँ हैं जिन में जीवन के शस्त्र से सब चीज़ों का वर्णन किया हुआ मिलेगा।

बस, यही सब मैं हूँ। पिछली अपनी छायावादी एवं रहस्यवादी कविताओं को मैं कविता नहीं मानता। क्योंकि किसी भी प्रकार के प्रभाव से लिखी गयी कविता को द्वितीय श्रेणी का काव्य कहना होगा। और यह द्वितीय वाली बात मुझे नहीं पसन्द है। आप के बारे में मैं जान ही कैसे सकता हूँ? क्योंकि आप का वक्तव्य मुझे पढ़ने को मिल ही नहीं सकता। किन्तु कोई चिन्ता नहीं।

साहित्य में नये प्रयोगों के द्वार बन्द नहीं हुए हैं। हिन्दी में प्रयोगों की आवश्यकता दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। विगत, अनुकरणीय नहीं हो सकता। हाँ शोभालंकार बन कर रह सकता है। नया तो मेरा युग है, मेरी प्रकृति है, तथा सब से नया मैं हूँ।

■

चाहता मन

गोमती तट,
दूर पेन्सिल रेख-सा वह बाँस झुरमुट
शरद् दुपहर के कपोलों पर उड़ी वह धूप की लट,
जल के नग्न ठण्डे बदन पर कुहरा झुका
लहर पीना चाहता है।
सामने के शीत नभ में,
आयरन ब्रिज की कमानी, बाँह मसजिद की बिछी है।
धोबियों की हाँक,
वट की डालियाँ दुहरा रही हैं।
अभी उड़ कर गया है वह छतरमंज़िल का कबूतर झुण्ड।
तुम यहाँ बैठी हुई थीं अभी उस दिन।
सेब-सी बन लाल
चिकने चीड़-सी वह बाँह अपनी टेक पृथ्वी पर यहाँ।
इस पेड़ जड़ पर बैठ,
मेरी राह में, इस धूप में।
बह गया वह नीर,
जिस को पदों से तुम ने छुआ था।
कौन जाने धूप उस दिन की कहाँ है,
जो तुम्हारे कुन्तलों में गरम, फूली, धुली, धौली लग रही थी।
चाहता मन
तुम यहाँ बैठी रहो,
उड़ता रहे चिड़ियों सरीखा वह तुम्हारा श्वेत आँचल;
किन्तु अब तो ग्रीष्म,
तुम भी दूर, औ' ये लू।

अहं

अहं की चट्टान को यह फोड़ती
आ रही आवाज़ किस की ?
एक गहरी चुप सभी के होठ सीखें।
बाँसुरी की क़ब्र पर चुप का कफ़न मैं।
मुट्ठियाँ, पत्थर किये हैं बन्द।
कौन ?
चुप के वस्त्र को,
तेज़ सूई की तरह है छेदता ?
विश्व के इस रेत वन पर
मैं अहं का मेघ हूँ।
उन दिशा की दासियों के संगमरमर के करों में,
जय वस्त्र मेरा है थमा।
कौन हो तुम ?
चाहते किस के पलक असगुन ?
क्या नहीं तुम देखते ?
आज मेरे अहं कन्धों पर गगन बैठा हुआ।
अहं पर ये अश्रु किस के ?
हुंकार से मैं घाटियों की गोद को भरता रहूँगा
जब तलक इस प्रश्न का उत्तर न होगा।
क्या ?
मेरी अहं की मीनार की ही नींव में
इस पत्थर हिचकियाँ है तो रहा ?
एक हिचकी !
प्रतिध्वनित हो चाहती इतिहास होना ?
आह ! मैं ऊँचा गगन,
औ' नींव का पाताल, आँसू की नदी में।

किरन धेनुएँ

उदयाचल से किरन-धेनुएँ,
हाँक ला रहा वह प्रभात का ग्वाला !

पूँछ उठाये, चली आ रही
क्षितिज जंगलों से टोली,
दिखा रहे पथ, इस भूमी का
सारस सुना-सुना बोली,

गिरता जाता फेन मुखों से
नभ में बादल बन तिरता,
किरन धेनुओं का समूह
यह आया अन्धकार चरता,

नभ की आम्र छाँह में बैठा, बजा रहा वंशी रखवाला !

ग्वालिन-सी ले दूब मधुर
वसुधा हँस-हँस कर गले मिली,
चमका अपने स्वर्ण सींग वे
अब शैलों से उतर चलीं,

बरस रहा आलोक दूध है,
खेतों खलिहानों में,
जीवन की नव किरन फूटती
मकई के धानों में,

सरिताओं में सोम दुह रहा, वह अहीर मतवाला !

उषस्-१

नीलम वंशी में से कुंकुम के स्वर गूँज रहे !

अभी महल का चाँद,
किसी आलिंगन में ही डूबा होगा
कहीं नींद का फूल मृदुल,
बाँहों में मुसकाता ही होगा,
नींद-भरे पथ में वैतालिक के स्वर मुखर रहे !

अमराई में दमयन्ती-सी
पीली पूनम काँप रही है,
अभी गयी-सी गाड़ी के
बैलों की घण्टी बोल रही है,
गगन घाटियों से चर कर ये निशिचर उतर रहे !

अन्धकार के शिखरों पर से
दूर सूचना तूर्य बज रहा,
श्याम कपोलों पर चुम्बन का
केसर-सा पदचिह्न ढल रहा,
राधा की दो पंखुरियों में मधुबन झीम रहे !

भिनसारे में चक्की के सँग
फैल रहीं गीतों की किरनें,
पास हृदय छाया लेटी है,
देख रही मोती के सपने,
गीत न टूटे जीवन का यह कंगन बोल रहे !

उषस्-२

हिमालय के तब आँगन में

झील में लगा बरसने स्वर्ण,
पिघलते हिमवानों के बीच,
खिलखिला उठा दूब का वर्ण;
शुक्र छाया में सूना कूल।
देख उतरे थे प्यासे मेघ,
तभी सुन किरनाश्वों की टाप,
भर गयी उन नयनों में बात,
हो उठे उन के अंचल लाल,
लाल कुंकुम में डूबे गाल,
गिरी जब इन्द्र दिशा से देवि !
सोम रंजित नयनों की छाँह,
रूप के उस वृन्दावन में !

व्योम का ज्यों अरण्य हो शान्त,
मृगी शावक-सा अंचल थाम,
तुम्हें मुनि-कन्या-सा घन क्लान्त
तुम्हारी चम्पक बाँहों बीच,
हठीला लेता आँखें मींच,
लहर को स्वर्ण कमल की नाल,
समझ कर पकड़ रहे गज-बाल,
तुम्हारे उत्तरीय के रंग,
किरन फैला आती हिम-शृंग,
हँसी जब इन्द्र दिशा से देवि !
सोम-रंजित नयनों की छाँह,
मलय के चन्दन-कानन में !

उषस्-३

थके गगन में उषा गान !

तम की अँधियारी अलकों में
कुंकुम की पतली-सी रेख
दिवस-देवता की लहरों के
सिंहासन पर हो अभिषेक,
सब दिशि के तोरण-बन्दनवारों पर किरणों की मुसकान !

प्राची के दिक्पाल इन्द्र ने
छिटका सोने का आलोक
विहगों के शिशु-गन्धर्वों के
कण्ठों में फूटे मधु श्लोक,
वसुधा करने लगो मन्त्र से वासन्ती रथ का आह्वान !

नाल पत्र-सो ग्रीवा वाले
हंस मिथुन के मीठे बोल,
सप्त सिन्धु में घिरें मेघ से
करें उर्वरा दें रस घोल,
उतरें कंचन-सी बाली में, बरस पड़ें मोती के धान !

तिमिर दैत्य के नील दुर्ग पर
फहराया तुम ने केतन,
परिपन्थी पर हमें विजय दो
स्वस्थ बने मानव जीवन,
इन्द्र हमारे रक्षक होंगे, खेतों-खेतों औ' खलिहान !

सुख, यश, श्री बरसाती आओ
व्योम-कन्यके ! सरल नवल,
अरुण अश्व ले जायँ तुम्हें
उस सोमदेव के राजमहल,
नयन रागमय, अधर गीतमय, बनें सोम का कर फिर पान !

उषस्-४

किरन मयी ! तुम स्वर्ण वेश में !
स्वर्ण देश में !

सिंचित है केसर के जल से
इन्द्र-लोक की सीमा,
आने दो सैन्धव घोड़ों का
रथ कुछ हल्के धीमा,
पूषा के नभ के मन्दिर में
वरुणदेव को नींद आ रही,
आज अलकनन्दा, किरनों की
वंशी का संगीत गा रही,
अभी निशा का छन्द शेष है, अलसाये नभ के प्रदेश में !

विजन घाटियों में अब भी
तम सोया होगा, फैला कर पर,
तृषित कण्ठ ले मेघों के शिशु
उतरे आज विपाशा-तट पर,
शुक्र लोक के नीचे ही

मेरी धरती का गगन-लोक है,
पृथ्वी की इन खेत बाँह में
फ़सलों का संगीत-लोक है,
नभ गंगा की छाँह, ओस का उत्सव रचती दूब देश में !

नभ से उतरो कल्याणी किरनो !
गिरि, वन-उपवन में,
कम्पन से भर दो बाली मुख
रस ऋतु, मानव मन में,
सदा तुम्हारा कंचन-रथ यह
ऋतुओं के सँग आये,
अनागता ! यह क्षितिज हमारा
भिनसारा नित गाये,
रैण डूँगरी उतर गये, सप्तर्षी अपने वरुण देश में !

जन गरबा--चरैवेति

चलते चलो, चलते चलो !
सूरज के संग-संग चलते चलो; चलते चलो !

तम के जो बन्दी थे
सूरज ने मुक्त किये
किरनों से गगन पोंछा
धरती को रंग दिये
सूरज को विजय मिली, ऋतुओं की रात हुई ।
कह दो इन तारों से चन्दा के संग-संग चलते चलो !

रत्नमयी वसुधा पर
चलने को चरन दिये
बैठी उस क्षितिज पार
लक्ष्मी शृंगार किये,

आज तुम्हें मुक्ति मिली, कौन तुम्हें दास कहे ?
स्वामी तुम रितुओं के संवत् के संग-संग चलते चलो !

नदियों ने चल कर ही
सागर का रूप लिया
मेघों ने चल कर ही
धरती को गर्भ दिया

रुकने का मरण नाम, पिछे सब प्रसार हैं।
आगे हैं रंग-महल, युग के ही संग-संग चलते चलो !

मानव जिस ओर गया
नगर बने, तीर्थ बने,
तुम से है कौन बड़ा ?
गगन-सिन्धु मित्र बने,

भूमी का भोगो सुख, नदियों का सोम पियो
त्यागो सब जीर्ण वसन, नूतन के संग-संग चलते चलो !

उषस् : अश्व की वल्गा

अश्व की वल्गा लो अब थाम,
दिख रहा मानसरोवर कूल !!

गौर कन्धों पर ग्रन्थि डाल,
पूछते हंसों के ये बाल,
स्वर्ग से दिखती है यह झील,
हिमालय लगता होगा पाल
तुम्हें वे यक्ष-पत्नियाँ देख, करेंगी गीत सुना अनुकूल !!

तराई वन जब कर लो पार,
वहीं हैं नगर ग्राम औ' खेत,
कहीं तट की मृदु बाँहें डाल,
सो रहीं होंगी यमुना रेत,
साँझ हम गंगा-जल से किरन-कलश फिर भर देंगे इस कूल !!

कहीं क्षिप्रा में श्रद्धा एक
अर्घ्य दे गुनती होगी श्लोक
रंगमय एवं लहर कर देवि !
माँग भर देना रथ को रोक.
गगन का श्रेष्ठि खड़ा है नील बाँह में लिये भूर का झूल !!

पुष्ट चिट्टे वृषभों को देख
लगेगा दिन बन आया बैल,
चीर भूमा का उर आधार,
उगे सीता में जीवन बेल,
पुष्पवती पृथ्वी को देना थाम, हँसे अंचल के चावल फूल !!

समय देवता

सोने की वह मेघ चील,
अपने चमकीले पंखों में ले अन्धकार अब बैठ गयी दिन अण्डे पर।
नदी वधू की नथ का मोती चोल ले गयी।
गगन बीड़ से सूरज ग्वाला हाँक रहा है दिन की गायें।
नभ का नीलापन चुप है दिशि के कन्धों पर सिर धर।
इस उतराई मार्ग दिवस के सैन्धव नतशिर हो कर उतरे, सधे चरण से,
चमक रही पीले बालों वाली अयाल उन के गरदन की।
साँझ, दिवस की पत्नी, अपने नील महल में बैठी कात रही है बादल,
दिशि की चारों कन्याएँ हैं माँग रहीं तारों की गुड़ियाँ।
अभी बादलों के परबत पर खेल रही थी दिन की लड़की स्वर्ण-किरण वह,
नहीं पास में पिता देख चौंकी थी, मेले में खोये बालक-सी।
दूर आल्प्स के पार, किरन गायों को घण्टी सुन कर दौड़ रही है,
तिब्बत की ठण्डी छतें लाँघ वह।
पूरब दिशि में हड्डी के रंगवाला बादल लेटा है पेड़ों के ऊपर गगन खेत में
दिन का श्वेत अश्व मार्ग के श्रम से थक कर भरा पड़ा ज्यों।
समय देवता !
हटा ले गये तुम अपनी आलोक-भुजा बरसा कर दिन का पानी।
अब नील तुम्हारी ग्रहण-भुजा की श्याम अंगुलियाँ,
पृथ्वी की सारस ग्रीवा पर फ़ौलादी बन बैठ गयी हैं।
यूनानी मुनि प्लेटो की मुद्रा में बैठे समय सनातन।
घूम रही मेरी धरती में आँख गड़ाये देख रहे क्या ?
बिछा हुआ है देव ! तुम्हारी प्रलय-सृजन की आँखों का आकाश हमारे
देशान्तर औ' अक्षांशों औ' देशान्तर
के इन लम्बे बाँसों पर।
सविता, वरुण, जहाँ छह-छह माहों तक अतिथि बने बैठे रहते हैं,
उन प्रदेश का मैं एस्कीमो,

मेरी बाँहों में बर्फ़ भरी,
मैं सदा खोंचता आया यह हड्डी की गाड़ी असुर बर्फ़ के सीने पर।
चौड़े कन्धों के रेनडियर
बिजली जिन टाँगों की गति हो।
मुझ को मेरा टुण्ड्रा प्रिय है।
इन बर्फ़ जंगलों में कोई भी पेड़ नहीं,
जिस की छाया छूने से ठण्डा मन होवे तिमिरमान,
दूर आर्कटिक के खेतों में मछली की खेती होती है।
मेरी पत्नी उस बर्फ़ गुफा में बैठी होगी आग जलाये,
श्वेत रीछ की आशा में ही मांस गन्ध साकार हो गयी होगी।
मुझ को उस की आँखें प्रिय हैं।
जीवन की बर्फ़ीली निर्जनता में जैसे उग आयी हँस-मुख हरियाली।
छह महीने तक जम जाता है देव ! हमारे गगन खेत में जल किरनों का
जाने किन स्लेजों पर चढ़ कर छह माहों तक अन्धकार आता ही रहता।
लगता जैसे,
सूर्या को ही ब्याह दिया दिन ने अपने प्रिय मित्र वरुण को।
बिदा हो गयी कन्या की,
सब रिक्त हो गये दिग्पालों के अन्न-भाण्ड वे।
सुनसान पड़ा है नभ का मण्डप, जिस में लग्नयज्ञ का धूम घिर रहा गाढ़ा
हो कर
समय देवता !
उन नीचे के गरम देश में उतर चलो अब,
कहीं न जम जाये संवत् रथ, वर्ष अश्व सब, नील रेशमी क्षण की वल्गा।
यह नीले सूरज की धरती, नील कमल-सी शुभदा होवे,
ऋतु के बर्फ़ फूल चमेली से मंगल हों।
होते हैं प्रारम्भ यहाँ से मनुज पदों के रक्त चिह्न,
जो किसी सदी में कभी चले थे, अग्नि भूख की प्यास मिटाने।
समय देवता ! मनुज निष्क्रमण की है यह प्राचीन कथा।
किन्तु सामने आ पहुँची है कर्मभूमि यह उस सरिता की जिस को सब
कहते हैं बोल्गा।
यह यौवन की भूमि सोवियत,
जहाँ मनुज की, उस के श्रम की होती पूजा।

पूँजी औ' साम्राज्यवाद की तोड़ बेड़ियाँ,
हाथों में नवजीवन की उल्काएँ ले कर मनुज खड़ा है कुतुब सरीखा।
उस के चलने में लोहा है,
कौन रोक सकता है मानव को चलने से जिस के सँग-सँग आदि काल
से इन्द्र चल रहा।
मनुज चल सके इसी लिए तो अन्धकार में सूर्य चल रहा।
जहाँ गया मनु-पुत्र नदी ने जल पहुँचाया।
रत्नभरा धरा ने मानव को शत-शत हीरों से लादा।
मनुज चला तो सृष्टि चली, अन्यथा पूर्व थी मात्र प्रकृति।
सब से प्रथम इसी भूमि पर श्रम की जय-जयकार हुई है,
एक पुरुष लेनिन की वाणी शतकण्ठी हुंकार हुई है।
धीमे बोलो समय देवता ! उसी पुरुष की यह समाधि है,
अभी-अभी जो कर्म-निरत था,
अब आँखें आकाश मींच कर श्रम के सपने देख रही हैं।
सदा मेघ आशीष लिये आये बिजली के रथ पर,
ऋतुओं के रंगों के चामर स्वर्ग रचें इस भू पर।
वह जो पीली भूमि दिख रही देव ! वही है पीत सूर्य की पीली वसुधा,
जिस का होता कहवा मीठा।
श्रमण चीन का पीला चीवर अल्ताई पर बिछा हुआ है।
वे अफ़ीम के खेत उदुम्बर रंगों में डूबे सोये हैं।
मोरपंख-सी सजी रमणियाँ,
तितली से रंगीन शरद, मेघों से हलके उन के पंखे, यात्रा का श्रम-ताप
हरेंगे।
सीक्यांग नदी, मीठे जल से है भरी हुई।
ये चीड़ पेड़ की नौकाएँ, सन्ध्या-विहार में अभी देव को डुबा सकेंगी।
किन्तु आज तो चीन देश की वसुधा माता झुलसी हुई मृतप्राय है।
वे विदेश पूँजी की कीलें जो छाती में ठुकी हुई थीं,
तीन साल के बाद आज वे उखड़ रही हैं।
मेरी चीनी माता की आँखों में कोई भाव नहीं है।
राग-प्रेम कुछ नहीं बचा है, केवल
नयन-गगन में भूख-प्यास की चीलें मँडराती हैं।
समय देवता ! बम के गोलों से भी धरती बाँझ हुई है।

चीन देश के नगर-ग्राम, घाटी-जंगल में भरा हुआ धूआँ ही धूआँ,
गोबी की मंगोल रेत पर युद्ध लाश दुर्गन्ध दे रही।
पेकिंग की चिकनी सड़कों पर पिछला जीवन मरा पड़ा है,
नवजीवन के हाथों में ग़ुस्से की मुट्ठी नदी हुई है,
पेशानी पर किसी आक्रमण की चिन्ता है,
दौड़-दौड़ कर चरण देश के द्वार बन्द करने में रत हैं,
आज वर्दियाँ तीस वर्ष के बाद उतरतीं,
लगातार बारूद उगलते बन्दूकें भी हाँफ रही हैं।
पिछली सारी फ़सलों के वे महल जल गये,
उन फ़सलों के हरे गलों में टँगे हुए ताबीज़ ग़ुलामी झूल रहे हैं।
जाओ कालिदास के बादल, चीनी धरती बुला रही है,
जाओ हे सतरंगी सूरज, चीन देश में भोर हुई है।
दक्षिण दिशि में देव ! देखते हैं वह धरती की सिकुड़न-सी लम्बी रेखा,
राजनीति की फ़सल सरीखी खड़ी हुई दीवार चीन की,
रुक जाये इतिहासों की जिस से सेनाएँ,
मनुज बाँटने चाहा ऊँचे बुर्ज़ बना कर मिची आँख के सम्राटों ने।
चीन देश की वसुधा अपने स्तन से दूध पिलाती उस टापू को,
ज्वालामुखि मस्तक है जिस का,
दूर छिपकली-सा वह छोटा टापू है जापान देश का,
जो कि मर चुका एटम बम से।
डूब गयी बूटों की टापें; सिसक रहा कोढ़ी-सा जीवन,
विज्ञान, धुएँ के अजगर-सा है लील रहा सब रंग रेशमी मनु-श्रद्धा का।
हिरोशिमा में मनुज मर गया।
वही मनुज, जिस के सिर पर यह गगन मुकुट है,
अन्धकार सूरज मशाल ले किरनों का केसर देने को साथ चल रहा,
और जिसे, वह दिन की चिड़िया, गगन आम पर दिन भर बैठी
धूप सुनाती,
वही सृष्टि-श्री मनुज आज विज्ञान क़ब्र में मरा पड़ा है।
दौड़ रही हैं गन्धक और फ़ासफ़ोरस की पीली लपटें,
जिस में उस जापान देश का सदियों का संगीत जल गया,
महल फ़ैक्टरी सभी बुझ गये।
झुलसी हुई पलक नारी की, मेघ भरी वे भावहीन जापानी आँखें,

शिशु के हाथों में हड्डी की गुड़िया।
सुदूर पैसिफ़िक हरी झील में देव ! हँस रहे वे धरती के द्वीप कमल हैं।
समय देवता ! यह तिब्बत है,
यहाँ मनुज लामा होता है,
चावल और धान धरती की यह बर्फ़ीली छत है सोयी।
किन्तु आज नवक्रान्ति, बन्द इस के दरवाज़ों पर आवाज़ लगाती।
यह सम्मुख धरती का पति हिमगिरि आ पहुँचा,
इस की मैत्री सुखकर होती समय देवता !
जो प्रणाम करता है इस को श्वेत हरिण देता यह उस को।
सब से पहले किरन इसी से लग्न रचाती,
अपनी गायें छोड़ धरा पर सूरज इस से गोधूली तक बातें करता।
याक बैल पर बर्फ़ ओढ़ कर हिमगिरि को अच्छा लगता है ब्रह्म देश
तक चलते जाना
हिमगिरि की ही हँसी बह रही गंगा बन कर
मुस्कानों से जमुना जन्मी,
ब्रह्मपुत्र कब उतर गयी घाटी से इस को पता नहीं है।
दोपहरी में मानसरोवर झील किनारे हंसों को नहलाता इस को देख
सकोगे।
दूर द्रोणियाँ, मुनि-पत्नी-सी देवदार के देश सुनहले सुखा रही हैं।
चले आ रहे वे किरात, जो काँधों पर साँभर लटकाये—
कहते हैं हिमगिरि-विवाह में इन ने मीठे गीत सुनाये।
यह केसर सूरज की धरती, भरत भूमि,
इस स्वर्ण धूप में मन्त्रपाठ-सी करती लगती।
वे सन्थाली गीत, असम के जंगल गाते,
बंग देश की वंशी को वह अण्डमान सुनता आया है,
गोदावरी का गीत उठ रहा और त्रिवेन्द्रम के कूलों पर खिली पड़ रही
वह धीवर की वंशी।
विन्ध्या के घर बादल आये, रेवा गाती सोहर,
राजपूतनी,ऊँटों को नूपुर पहना कर रेत वनों में हरी दूब-सी चमकी
पड़ती।
अमराई में बौर आ गये, लाज आ गयी,
मेरे उस जलते बिहार को ताड़ों ने हँस छाया कर दी,

उज्जयिनी को खोजा करते मेघदूत सन्देश कलश ले
समय देवता !
वही अजन्ता, जिस की पत्थर की पलकों में अभी तलक भी,
एक आँख में भोग, एक में मुक्ति योग के सपने हँसते।
वह इमली का देश,
जहाँ कावेरी को वे लहर चूड़ियाँ सिन्धु पिन्हाता,
अन्तरीप पर बैठी पत्नी पारवती वह ज्वार मृदंगम् बजा रही है।
किन्तु आज तो शस्य-श्यामला इस धरती पर
फ़सल जल रही, मनुज मर रहा।
कलकत्ते के फ़ुटपाथों पर,
मनुज खून में लथपथ डूबा, अपनी सारी संस्कृतियों से ऊब-ऊब
आसमान का गट्ठर बाँधे, चला आ रहा पूर्व क्षितिज में,
शुतुरमुर्ग़ की टाँगों जैसा नंगा-नंगा,
धर्म-घृणा की इस ज्वाला में जले-भुने वे देव स्वर्ग में, मनुज धरा पर,
आज मात्र शरणार्थि बन गये।
लगी हुई है आग आज आसाम वनों में,
सदियों से जो बन्द पड़े थे बर्फ़ और हिम के दरवाज़े
नयी हवा के भूकम्पों में काँप रहे हैं, टूट रहे हैं।
नव निर्माण तुझे करना है, नहीं चाहिए जीर्ण पुरातन,
बासी लहरों से सरिता का कभी नहीं श्रृंगार हुआ है।
जीर्ण पूज्य है,
वर्तमान मेरी बाँहें हैं, मैं भावी की नींव धर रहा।
पैगोडा से भरी भूमि यह ब्रह्म देश है,
सीप सरीखी आँखों वाली ब्रह्म युवतियाँ,
अपने मनु के विश्वासों का दीप सँजोये इरावदी सँग-सँग चलतीं।
हिन्द चीन औ' ब्रह्म देश में धुआँ उठ रहा,
सागौन जंगलों में जीवन की आग लगी है।
नव जीवन के हाथों में विश्वास खड्ग है, और अँधेरे नीरो का गिर
रहा मुकुट है।
कितना श्रम करता है सूरज, इसी लिए वह आदि श्रमिक है,
कर्मशील हैं उस के रथ के रंग अश्व सब,
श्रम की विजय दिवस कहलाती।

सिन्धुराज यह महा पैसिफ़िक,
ध्रुव से ध्रुव तक नील बिछे हैं, गगन मित्र है केवल इन का।
डमरू जैसा देश दिख रहा अमरीका का,
कोलम्बस के पोत लगे थे इस के तट पर, उपनिवेश औ' शोषण के हित।
गगन-विचुम्बित इन महलों की मनुज नींव है जिन में पैसे का निवास है।
एटम औ' उद्रजन बम हैं नभगामी महलों के कर में,
चाह रहे जो सृष्टि धरा को केवल हिरोशिमा कर देना।
इस ने पैसों की ईटों से चाहा ऊँचे महल बनाना,
किन्तु बन गये आज दैत्य वे, खड़े हुए हुँकार भर रहे,
जिन की अन्धकार की लम्बी परछाईं से अतलान्तिक औ' महा पैसिफ़िक
काँप रहे हैं।
स्वयं मनुज ही द्रोही उस का,
देव बनाना चाह रहा था दैत्य बन गया।
व्यर्थ बह गया मनुज रक्त का अथक परिश्रम,
कुहरे में बन्दी हैं किरनें और रात के परवत दुर्गम,
मनुज बाँसुरी पर बजती है दानव की लोहे की सरगम।
धन्य धान का वसुधा यौवन, लौह पटरियों की कीलों में बँधा हुआ है।
विश्व शान्ति का आह्वान इन राजनीति के भवनों में तो सदा असम्भव,
वह जन-रव से दूर हँस रही दूब बिछाये धरती माता,
विश्वम्भरा रूपमयी वह,
सरित सोम के कलश भरे बैठी पुत्रों की आस लगाये।
मनुज धरा में बीज डाल कर चल देता है, किन्तु
खेत में बैठ धरा तो दिन भर धूप घाम पीती है, एक बीज से फ़सल उगाने।
अतलान्तिक में पोत बहुत धीमे चलते हैं,
इस का जल सोता रहता है,
वह देखो उस अन्धकार की कुहर बाँह में नींद भरा जल साँस ले रहा।
यह नीले सूरज की धरती मेरा यूरॅप,
आसमान का संजय जिस के युद्धों का इतिहास कह रहा।
समय देवता! केथेड्रल के घण्टों की है गजर चार की डूब रही।
यह धरती के मस्तक जैसा शेक्सपियर का देश आ गया,
जिस की भाषा की बाँहों में धरा बँधी है।

सेक्सन संस्कृति के इन सदनों पर रात बहुत ठण्डी हो कर पिछले
प्रहरों में स्वयं नींद से भर जाती जब,
उतरा करते क्रिसमस बच्चे डर कर दुष्ट तिमिर चाचा से
वे स्काटी मानसून-भरी घाटियाँ, हँसतीं धरती के मंगल-सों।
नीचा मुख कर भेंड़ें चरतीं
ऊँचा मुख कर वह स्काटी लम्बा ग्वाला देखा करता कृपाशील उस
नील गगन को,
जो उस के घर पर है छाया।
पीछे छूट गयीं पर्वत की घनी श्रेणियाँ, सम्मुख पेनाइन पठार हैं
वस्त्र नगर मैनचेस्टर की वे दूर दिख रहीं बड़ी चिमनियाँ,
जहाँ बन रहे सन्दल रंगों वाले रेशम वस्त्र सजीले,
देश-देश की परिधानित होंगी कन्याएँ।
उतर चलो नीचे बर्मिंगम,
काला गगन, हवा साँवली, जहरीले धूएँ के बादल,
चीख़ रही सीटी जिन में मिल।
भद्दी मोटी लालटेन ले घूम रहे गोदामों में ये मोटे वार्डर,
जाँच रहे रेलों के पहिये हथौड़ियों से घन-घन कर के,
मोटे होठों में चुरुट जल रहा।
आसमान की छाती में इंजन का सारा शोर भर रहा,
जाने किस राक्षस की आंखों जैसी लाल हरी लाइटें चमक रहीं
सिगनल खम्भों की।
लोहे के पाताल नगर में मानव जाने कहाँ खो गया।
कुछ हल्के-से दीख रहे हैं पार्लमेण्ट के भवन अभी नीले ठण्डे।
उन भवनों में,
चमड़े का जिल्दों में बन्दी सदियों का इतिहास ख़ून से लथपथ घायल
सिसक रहा है।
देव ! फ़्रान्स के लिए पोत के लंगर खुलते,
कोमल लहरें विनयशील हो हँस-हँस खिल-खिल पोत बढ़ातीं।
अंगूरों का देश आ गया,
इस धरती के कण-कण तक को ड्यूकों ने मदिरा से सींचा।
खेतों की उन नहरों में से फ़्रेंच युवती का रूप बह रहा।
वह बिस्के खाड़ी के ऊपर आसमान का ड्यूक हँस रहा,

जिस का नीली फ़ेल्ट हेट से जल-कन्याएँ खेल रही हैं।
किसी फ़्रेंच युवती-सा पेरिस, चमकीली किरनों का गाउन पहने सब से पूछ रहा है,
कल की बासी छाया मेरे कुन्तल में तो शेष नहीं है ?
दूर कहीं यूकैलिप्टस के पत्तों की गोरी छायाओं में से छन कर
चली आ रही नार्मैण्डी के उस शैटो की नृत्य-गतें वे,
सीन नदी की लहर कमर में हाथ डाल कर नाच रहा है जिन तालों पर मेरा पेरिस।
इस विलास में डूबे पेरिस के रेशम परदों के पीछे उच्च वर्ग का स्वार्थ मन्त्रणा करने में रत।
फ़्रान्स सदा युवती का जीवन आज तलक है जीता आया।
एक शराबी के शरीर-सा फ़्रान्स बचा है,
जिस को हर बातों की आदत मात्र रह गयी,
किन्तु अभी नवजीवन में धरती की सोंधी गन्ध आ रही,
स्वस्थ नसों में सीन नदी के जल की मीठी गन्ध महकती,
अंगूरों से ज़्यादा मीठा वह मिट्टी का फूल जो कि अब धरती माता उगा रही है।
गगन गड़रिया अपने कुहरे फ़ेल्ट हेट में जिसे खोंस कर
बैठा हुआ आल्प्स पर्वत पर अपनी भेड़ें चरा रहा है।
स्विटज़रलैण्ड का स्वर्ग दिख रहा,
झीलों के जो नील कमल के सपनों में ही डूबा रहता,
सुनता रहता बम के गोले।
नारसीसस यह आल्प्स,
बर्फ़ की बाँह घाटियों में झीलों के गीत गा रहा।
हरी झील में पीत किरन चिड़ियाँ जब पीने आतीं पानी,
उन कतार में लगे सनोवर फूलों की रंगीन घाटियाँ,
सान्ध्य गगन के नील चर्च में उन्हें बुलातीं।
मोरपंख से उन चिड़ियों के हल्के डैने,
हेलेन-सी डैन्यूब किनारे, गाउन जैसे बिछ जाते हैं।
नाइटिंगेल बैठी पाइन पर,
किसी कीट्स की आशा से ही अपने छोटे रंग कण्ठ से माउथ-आर्गन छेड़ रही है।

रंग घण्टियों की वह सरगम,
नयी वधू-सी श्वेत स्कर्ट-सी हिम पर बिछने-बिछने को है।
और रात की नीली रेशम वाले परदे,
आल्प्स परवतों के महलों में जब गिर जाते,
अन्धकार के नील वनों में लार्क कण्ठ तब डूबा-डूबा उठने लगता।
तम का वैरी तारों की वे मोमबत्तियाँ जला कहीं फिर चल देता है।
केवल पीले बालों वाली सन्ध्या का वह गगन पियानो बहुत रात तक
बजता रहता।
और मुझे तब लगने लगती मेरी यह युरॅप की धरती हरी झील में नील
फूल हो।
यह मानव का ज्वालामुखि जर्मन प्रदेश है।
राइन ने कविता दी इस को,
युद्ध बनी डैन्यूब तलहटी,
राइन के जलकण्ठों में गेटे ने गाया,
और हिटलरी फ़ौजी बूटों ने कुचला डैन्यूब लहर को।
संगीनों से कभी नहीं गेहूँ उगता है।
कल पुरजों के खेतों में ही बम की फ़सल हुआ करती है।
खाकी वर्दी का युग मेरा,
मेरे इस जर्मन प्रदेश में घर कोई नाम नहीं है।
बनी हुईं बैरक ही बैरक,
वसुन्धरा से धरा बना दी गयी आज है फ़ौजी नक़्शा।
मनुज नहीं कैडेट चलता है,
नाज़ी जर्मन बूट की क्लिक था।
किन्तु जोन, बैरा की लड़की,
तब भी भूखी मरी हुई थी,
एक नहीं, लाखों ऐसे थे जिन की छाती पर वे नाज़ी ठुके हुए थे।
वह बर्लिन का शहर आज नाज़ी पागल-सा युद्ध चुरट पी चुका स्वयं
के कपड़े में ही
आग लगा कर।
जलीं वर्दियाँ, धुंआधार फ़ौजी नक़्शों में आग लग गयी,
न्यूरेम्बर्ग से बुलेटिनों की आतीं रही कई आवाज़ें।
अब तो मेरे इस प्रदेश को कहना होगा बूचड़ख़ाना।

जले खेत हैं, वृद्धा-सी हो गयी बालियाँ
जिन में नहीं एक भी दाना ।
जला हुआ था, जला जा रहा मेरा यह जर्मन प्रदेश तो अब भी फ़ौजी
केम्प लगे हैं ।
कहने को बन्दूक़ नयी हैं,
किन्तु वही बारूद पुरानी,
चाल पुरानी, मार पुरानी,
अपने सिर पर आल्प्स मुकुट धर पोप रोम में राज कर रहे ।
इटली इस भूमध्य सिन्धु में नहा रहा है ।
समय देवता !
मेरी धरती अगर कहीं मीठा गाती है तो वह वेनिस का ही स्वर है ।
द्वीपों का यह नगर मुझे सब से प्रिय लगता ।
नील नयन वाले यौवन की वे मधुर युवतियाँ
रोमन सुख के मोर पंख बिनती रहती हैं ।
जलदेवों की कृपा सदा इस पर है छायी ।
पीटर की वे चर्च घण्टियाँ बजते-बजते कथा बन गयीं
धार्मिक घण्टों के ये स्वर सम्राट् रहे थे,
उन के उन जलयानों पर वे रोमन केतन विश्व विजय की इच्छाओं में
लहराते थे,
किन्तु रोम तो आज तलक जलता ही आया ।
मरा पड़ा है एल्बा बन कर मूक समाधी ।
नेपल्स, रोम के राजाओं की तरह विलासी,
बैठा अपने ज्वालामुखि पर टिरेनियन को घूर रहा है ।
मुसोलिनी के मर जाने का सब से अधिक दुःख इस को है
बदले की इच्छा का धूआँ घुटा पड़ रहा
पम्पियाइ की क़ब्रगाह पर चील सरीखा ।
नील गगन अपनी परछाईं आज देखने उतरा बैठा सिसली के उस
लघु टापू पर,
साथ सेकता जाता अपने शीत परों को गरम धूप में ।
भूमध्य सिन्धु में इतिहासों का जल चमकीला ।
कितना वृद्ध सिन्धु यह मेरा, युद्धों में घायल लथपथ-सा ।
इसी लिए तट के अधरों पर आतप लाली ।

दिन बाँहों की यौवन ज्वाला,
आलिंगन में बद्ध प्रेयसी वसुधा उत्तप्त गात है,
नहीं दिखेगा हरी दूब का अंचल सोना।
योजन के इन मील वनों में केवल गोरी रेत भरी है
ज्यों आलोक हंस के झड़ कर हल्के छोटे पंख गिरे हों।
नील नदी की लड़की मिस्र भूमि आ गयी।
पिता नील का यह प्रदेश है,
जिस ने चल कर मृत्यु रेत पर हरे चरण से, पुष्पवती धरती को कर दी।
बुला रही जो निज खजूर बाँहों को ऊँचे उठा-उठा कर
थके ऊँट, प्यासे पुत्रों को।
पानी पी कर रेत रुई का फूल बन गयी।
ताड़-खजूरों के इन चिकने पत्तों की पूजा करता हूँ, समय देवता!
बचा रहे मेरे मानव को आंधी की रेतीली सांसों के डसने से।
मेरे पूर्वज पिरेमिडों पर उतर रहा है,
दोपहरी का दैत्य स्वयं के अंगारे के लाल पुंज ले।
चाह रहा जो ममी चुरा कर ले जाना,
वह दुष्ट सहारा भेजा करता ड्रेगन अपने युगों-युगों से।
पिरेमिडों का अपना ऊँचा कूबड़ कर के,
देव! सहारा ऊँट स्वयं भी अपना चलना बन्द किये है,
जिस के गर्दन की आंधी की घण्टी भी तो मौन हो गयी।
रेत पर्वतों को हम छोड़ चुके हैं समय देवता!
रीछ सरीखा खड़ा हुआ है यह कांगो का काला जंगल।
अन्धकार इस का स्वामी है।
पेड़ों के नीचे की वह धरती अब तक क्वाँरी है,
पुरुष सूर्य की छाया से भी बची हुई है।
नदियाँ डरते-डरते बन को जल दे जातीं।
जैसे सारा अन्धकार इस पृथ्वी पर का
कांगो के जंगल में आ कर हांफ रहा है।
आदि जीव के वंशज अब भी किसी गुफा में अन्धकार से बातें करते।
कांगो के इन तम महलों की गुर्राहट को दूर खड़ा वह मेडागास्कर
सुनता रहता।
इस दक्षिण के अफ़्रीका में श्वेत-श्याम में युद्ध हो रहा,

मनुज-मनुज की घृणा जल रही,
और जल रहा जीवन का सुख।
यह गुडहोप दिखाई पड़ता,
जहाँ कभी वास्कोडिगामा भूला भटका आन लगा था।
प्रकृति दत्त अफ़्रीका ज़ेबरा
अतलान्तिक औ' हिन्द महासागर में बैठा हाँफ रहा।
सफ़ेद सूरज की धरती आस्ट्रेलिया है।
यूकैलिप्टस के वे गोरे जंगल श्वेत हँसी में डूबे रहते।
इन गोरे जंगल में मेरी नयी-नयी ही संस्कृति फैली।
समय देवता! कंगारू का यह प्रदेश है।
गेंहूँ के सोने जल पर 'केरल सी' की हवा तैरती।
घोड़े की छाती तक ऊँची स्वर्ण बालियाँ,
श्वेत सूर्य से बात कर रहीं।
मीलों लम्बे चरागाह में ऊन लपेटे भेड़ों का दल चला आ रहा।
क्वीन्सलैण्ड की नसों सरीखी इन नदियों में जल का यौवन गन्धमान हो बहता आया।
मुझ को भेड़ें लिये देख इन चारागाह ने दूब बिछा दी।
अब पृथ्वी पर साँझ हो रही,
मौन खड़ा यह सिडनी बन्दर देख रहा इस पिता सिन्धु को।
समय देवता!
ऐसे समय तुम्हें मेरी पृथ्वी का परिचय प्राप्त हुआ है।
जब कि युद्ध की चीलों के मुँह से हड्डी की गन्ध आ रही।
युद्धों के दर्रों में मानव लुटा हुआ-सा आज एक मैदान चाहता
और चाहता देश-देश की अपनी कटी हुई नदियों का जोड़
खेत में पानी देना।
धूएँ की चिड़ियाँ धरती का धान खा रहीं।
पिछले सारे सूर्यों ने मेरे खेतों में अपनी किरनें बो कर जीवन-दान दिया था।
चाँदी के चन्दा ने पूनम दूध पिला कर
मेरे जमुन अंगूरों को नव रसवान बनाया।
आओ ऋतुपति चन्द्र-सूर्य तुम
अपनी धूप चाँदनी के सौ-सौ चीवर फैलाते।

मनुज घाव पर चैत शरद की चाँदनियों की रेशम पलकें हवा कर सकें।
गगन आम पर स्वर्ग कहीं बैठा-बैठा तारों की वंशी मुझे सुनाये।
धरती नीले तारों का परिवार बन सके,
इसी लिए खेतों में सन्ध्या केसर बरसे।
ज्वारों के सिंहासन पर तुम बैठे हुए महासिन्धुओ!
बहो ध्रुवों तक, चलो तटों तक,
अपने शत उपहारों से मानव को लादो।
नये मनुज के हाथों में श्रम की रेखाएँ
आल्प्स रचेगा नये रूप में,
राइन, वोल्गा, गंगा के वह इस धरती पर आज नये जल-छन्द
लिखेगा।
उस के श्रम के नवल क्षितिज की ओर दौड़ते सूरज घोड़े आलोकों की
उल्काएँ ले।
समय देवता! आज विदा लो,
किन्तु तुम्हारे रेशम के इस चमक वस्त्र में मिट्टी का विश्वास बांध कर
भेज रहा हूँ।
मेरी धरती पुष्पवती है,
और मनुज की पेशानी के चरागाह पर दौड़ रही हैं तूफ़ानों की
नयी हवाएँ।

रघुवीर सहाय

रघुवीर सहाय

[रघुवीर सहाय : जन्म : लखनऊ, ९ दिसम्बर १९२९। शिक्षा : वहीं (एम० ए० अँगरेज़ी साहित्य में)। परिवार : "सामान्य मध्यवर्गीय, जिस में सरकारी, आर्यसमाजी और काँग्रेसी प्रभाव के अन्दर लोग मज़े-मज़े चलते रहे।" अब स्वयं किसी भी प्रभाव के अन्दर कम-से-कम मज़े-मज़े चलना कठिन पाते हैं। "साहित्य-अध्यापक पिता की धर्मभीरुता, सादगी और सहृदयता का मुझ पर गहरा असर पड़ा। यह मैं नहीं कह सकता कि कला के लिए अपनी रुचि मैं ने किस एक व्यक्ति से पायी; मगर यह शायद सच है कि पिता की सादगी और केशव तथा 'हरिऔध' के साहित्य के प्रति उन की अरुचि से मैं ने बहुत प्रेरणा पायी।

दिल्ली में रहते हैं। १९५१ में वहाँ ले जाने की ज़िम्मेदारी तत्कालीन प्रतीक के सम्पादक पर डालते हैं जो उन्हें अपना सहायक सम्पादक बना कर ले गये थे। पर वैसे यह भी मानते हैं कि दिल्ली में रहना स्फूर्तिप्रद है बशर्ते कि बीच-बीच में दिल्ली से बाहर जाया जा सके।"

प्रतीक के अलावा वाक् और कल्पना के सम्पादक मण्डल में रहे। जीविका के लिए रेडियो, टेलीविज़न और अख़बार को साधन बनाया है—कभी इसे, कभी उसे। सम्प्रति नवभारत टाइम्स के विशेष संवाददाता हैं।

"संगीत और चुनी-चुनी फ़िल्में देखने का शौक़ है। तेज़ सवारियों पर बैठने और उन्हें ख़ुद चलाने की तबीयत होती है।" (मोटर अब चलाते भी हैं—कितनी तेज़, यह पता नहीं।)

"जीवन का कोई भी वृत्त सम्पूर्ण नहीं हो सकता, पर यह कहे बिना तो नितान्त अपूर्ण रह जाता है कि लेखक चार छोटे बच्चों का पिता है और उन के साथ बना कर रखना सीख रहा है।"

कविता, कहानी और निबन्धों का एक संग्रह सीढ़ियों पर धूप में प्रकाशित हुआ है।]

वक्तव्य

•

ये कविताएँ १९४७ से १९४९ तक की रचनाओं में से संकलित हैं। मैं ने १९४७ में एक बार 'बच्चन' की कविताएँ पढ़ीं और उन की वेदना से मेरा कण्ठ फूटा। तभी से लिखना आरम्भ किया। कुछ समय बाद माथुर के कुछ सफल और कुछ असफल रंगों ने मुझे अपनी थोड़ी-बहुत सामर्थ्य का बोध कराया और मैं ने अपनी कला के प्रति सजग हो कर लिखने की कोशिश की।

पन्त और 'निराला' का अगर असर हुआ तो बहुत टेढ़े तरीक़े से। अन्य आधुनिक कवियों में 'अज्ञेय' और शमशेरबहादुर ने जिन की बौद्धिक आत्मानुभूति और बोधगम्य दुरूहता किसी हद तक एक ही-सा प्रभाव डालती हैं—मुझे अपनी आगामी रचनाओं के लिए काफ़ी तैयार किया है।

कोशिश तो यही रही है कि सामाजिक यथार्थ के प्रति अधिक से अधिक जागरूक रहा जाये और वैज्ञानिक तरीक़े से समाज को समझा जाये। वास्तविकताओं की ओर ऐसा ही दृष्टिकोण रहना चाहिए और यही जीवन को स्वस्थ बनाये रख सकता था। शमशेरबहादुर का यह कहना मुझे बराबर याद रहेगा कि ज़िन्दगी में तीन चीज़ों की बड़ी ज़रूरत है : आक्सीजन, मार्क्सवाद और अपनी वह शक्ल जो हम जनता में देखते हैं।

मगर मार्क्सवाद को कविता पर गिलाफ़ की तरह चढ़ाया नहीं जा सकता। उस के लिए मध्यवर्गीय, धोखा खाते रहने वाले ढुलमुल-यक़ीन को अपनी बौद्धिक चेतना को जागरूक रखना पड़ेगा और बराबर जागरूक रह कर एक दृष्टिकोण बनाना होगा। यह दृष्टिकोण सामाजिक, वास्तविक, साम्यवादी और इस लिए सही और स्वस्थ होगा। तभी कविता में जान और माने पैदा होंगे।

मैंने अपनी कविता के इस चरण तक पहुँचते-पहुँचते शैली में ताल और गति के कुछ प्रयोग कर पाये हैं। ताल को साधारण बोलचाल की ताल के जैसा बनाने में कुछ कविताओं में, जैसे 'अनिश्चय' और 'मुँह अँधेरे' तथा 'दुर्घटना' में, थोड़ी-बहुत सफलता मिली है हालाँकि उस कोशिश में भी कहीं-कहीं उर्दू की गति की बँधी हुई शैली का सहारा लेना पड़ा है। भाषा को भी साधारण बोलचाल

की भाषा के निकट लाने की कोशिश रही है, मगर उस में भी कहीं-कहीं भाषा की फ़िज़ूलखर्ची करनी पड़ी है। बहरहाल इस तरह की कोशिशें विचार-वस्तु के दिल और दिमाग़ में उतरने के तरीक़े पर निर्भर रहेंगी और ज़रूरी है कि हम अपनी अनुभूति को उसी प्रकार सुधारें, ताकि कविता भी वैसी ही जानदार हो सके जैसी कि वे वास्तविकताएँ जिन से हम कविता की प्रेरणा लेते हैं। विचार-वस्तु का कविता में खून की तरह दौड़ते रहना कविता को जीवन और शक्ति देता है; और यह तभी सम्भव है जब हमारी कविता की जड़ें यथार्थ में हों।

वसन्त

पतझर के बिखरे पत्तों पर चल आया मधुमास,
बहुत दूर से आया साजन दौड़ा-दौड़ा
थकी हुई छोटी-छोटी साँसों की कम्पित
पास चली आती हैं ध्वनियाँ
आती उड़ कर गन्ध बोध से थकती हुई सुवास।

वन की रानी, हरियाली-सा भोला अन्तर,
सरसों के फूलों-सी जिस की खिली जवानी,
पकी फ़सल-सा गरुआ गदराया जिस का तन,
अपने प्रिय को आता देख लजायी जाती।
गरम गुलाबी शरमाहट-सा हलका जाड़ा
स्निग्ध गेहुँए गालों पर कानों तक चढ़ती लाली-जैसा
फैल रहा है।
हिलीं सुनहली सुघर बालियाँ
उत्सुकता से सिहरा जाता बदन
कि इतने निकट प्राणधन
नवल कोंपलों से रस-गीले होठ खुले हैं
मधु-पराग की अधिकाई से कण्ठ रुँधा है
तड़प रही है वर्ष-वर्ष पर मिलने की अभिलाष।

उजड़ी डालों के अस्थिजाल से छन कर भू पर गिरी धूप
लहलही फुनगियों के छत्रों पर ठहर गयी अब
ऐसा हरा-रुपहला जादू बन कर जैसे
नीड़ बसे पंछी को लगने वाला टोना,
मधुरस उफना-उफना कर आमों के बिरवों में बौराया
उमँग-उमँग उत्कट उत्कण्ठा मन की पिक-स्वर बन कर चहकी

अँगड़ाई सुषमा की बाहों ने सारा जग भेंट लिया
गउझर फूलों की झुकी बेल
महमह चम्पा के एक फूल से विपिन हुआ ।

यह रँग उमंग उत्साह सृजनमयि प्रकृति-प्रिया का
चिकना ताजा सफल प्यार फल और फूल का
यह जीवन पर गर्व कि जिस से कलि इतरायी
जोवन का सुख-भार कि जिस से अलि अलसाया
तुहिन-बिन्दु-सजलानुराग यह रंग-विरंग सिन्दुर सुहाग
जन-पथ के तीर-तीर छिटके,
जन-जन के जीवन में ऐसे
मिल जाये जैसे नयी दुल्हन
से पहली बार सजन मिलते हैं
नव आशाओं का मानव को वासन्ती उपहार
मिले, प्यार में सदा जीत हो, नहीं कभी हो हार ।
जिन को प्यार नहीं मिल पाया
उन्हें फले मधुमास ।
पतझर के बिखरे पत्तों पर चल आया मधुमास ।

पहला पानी

बिजली चमकी
सुरपति के इस लघु इंगित पर
लो, यहाँ जामुनी बादल नभ में ठहर गये
आशीष दे रहे हाथों से।

धीरे-धीरे पूरब से आती हुई हवा
चारों दिशियों में गयी फैल
ढँग गये शीत से चौड़े-चौड़े खेत, हार,
धरती-परती-घर, गलियारे सब जुड़ा गये
धीरे-धीरे सन्ध्या की-सी बदली छायी
दुपहर जल से गरुई हो कर कुछ झुक आयी
आलोक गल गया अम्बर में
लो, सहसा झर-झर कर पहला झोंका आया
हम बढ़े घरों की ओर तनिक जल्दी-जल्दी दौड़े-दौड़े
दो गोरे-गोरे बलगर बैलों की गोंई
हो गयी ठुमक कर खड़ी पकरिया के नीचे
उड़ गयी चहक कर नीबी की सब से ऊँची
फुनगी पर बैठी गौरैया
फैली चुनरिया अटरिया चढ़ लायी उतार
जल्दी-जल्दी घाँघर समेट घर की युवती।

खुल कर बरसा पहला पानी
इन धुले-धुले बिरवों के नीचे से हो कर
वह चली गाँव की गैल-गैल
कच्ची मिट्टी की सुघर गेंहुँई दीवारें
मन-ही-मन भीगीं,

छवनी छप्पर नतशिर धारण करते जल
लम्बे-लम्बे जनपथ पर रहँकल की टेढ़ी-मेढ़ी लीकें
घुलती जातीं
फिर मिट्टी में जीवन की आशा जागी है
गलते हैं दकियानूसी मिट्टी के ढेले
पिछली फ़सलों की गिरी पड़ रही हैं मेंड़ें
सारे अनबोये खेतों की उजली धरती
अब एक हुई, स्वीकार कर रही है नव जल
गुरु-आज्ञा-सा ।

जितनी बूँदें
उतने जौ के दाने होंगे
इस आशा में चुपचाप गाँव यह भींग रहा है
खड़े-खड़े,
चौपालों बँगलों में बैठे
जन देख रहे जल का गिरना
चिड़िया चुनगुन से टुकुर-टुकुर ।

प्रभाती

आया प्रभात
चन्दा जग से कर चुका बात
गिन-गिन जिन को थी कटी किसी की दीर्घ रात
अनगिन किरणों की भीड़भाड़ में भूल गये
पथ, और खो गये, वे तारे।

अब स्वप्नलोक
के वे अविकल, शीतल, अशोक
पल—जो अब तक थे फैल-फैल कर रहे रोक
गतिवान समय की तेज़ चाल
अपने जीवन की क्षण-भंगुरता से हारे।

जागें जन-जन,
ज्योतिर्मय हो दिन का क्षण-क्षण
ओ स्वप्नप्रिये, उन्मीलित कर दे आलिंगन
इस गरम सुबह, तपती दुपहर
में निकल पड़ें
श्रमजीवी, धरती के प्यारे।

याचना

युक्ति के सारे नियन्त्रण तोड़ डाले,
मुक्ति के कारण नियम सब छोड़ डाले,
अब तुम्हारे बन्धनों की कामना है।

विरह-यामिनि में न पल-भर नींद आयी,
क्यों मिलन के प्रात वह नैनों समायी,
एक क्षण ही तो मिलन में जागना है।

यह अभागा प्यार ही यदि है भुलाना,
तो विरह के वह कठिन क्षण भूल जाना,
हाय जिन का भूलना मुझ को मना है।

मुक्त हो उच्छ्‌वास अम्बर मापता है,
तारकों के पास जा कुछ काँपता है,
श्वास के हर कम्प में कुछ याचना है।

ग़ज़ल

खोल दो अब द्वार प्रेयसि, प्रात का
मुक्त हो बन्दी अभागिन रात का।

जानता हूँ किस लिए बिखरा तिमिर
क्योंकि खिलता था हृदय जलजात का।

तप्त है ज्वर से उजाले का बदन
उष्ण है स्पर्श तेरे गात का।

प्रीत की वह रीत पिछली भूल जा
यह नहीं अवसर निठुर आघात का।

कौन कहता है कहानी प्यार की,
यह तुम्हें उत्तर तुम्हारी बात का।

भला

मैं कभी-कभी कमरे के कोने में जा कर
एकान्त जहाँ पर होता है
चुपके से एक पुराना काग़ज़ पढ़ता हूँ

मेरे जीवन का विवरण उस में लिखा हुआ,
वह एक पुराना प्रेम-पत्र है जो लिख कर
भेजा ही नहीं गया, जिस का पाने वाला
काफ़ी दिन बीते गुज़र चुका।

उस के अक्षर-अक्षर में हैं इतिहास छिपे
छोटे-मोटे,
थे जो मेरे अपने, वे कुछ विश्वास छिपे,
संशय केवल इतना ही उस में व्यक्त हुआ,
क्या मेरा भी सपना सच्चा हो सकता है ?

जैसे-जैसे उस का नीला काग़ज़ पड़ता जाता फीका
वैसे-वैसे मेरा निश्चय यह पक्का होता जाता है
प्रत्याशा की आशा में कोई तथ्य नहीं
उत्तर पा कर हो पाऊँगा कृतकृत्य नहीं
लेकिन जो आशा की,
जो पूछे प्रश्न कभी
अच्छा ही किया उन्हें जो मैं ने पूछ लिया।

संशय

तुम अप्रस्तुत ही रहोगे क्या मरण पर्यन्त ?
जब निकट होगा तुम्हारा बिन बुलाया अन्त,
आ रहा होगा विगत सुस्पष्ट तुम को याद,
मन तुम्हारा स्वस्थ होगा बहु-दिनों के बाद,
टँग गयी होंगी तुम्हारी पुतलियाँ निर्धूम,
ऐंठती होगी तुम्हारी जीभ मुँह में घूम,
कुछ कहोगे उस समय कोई सुसज्जित बात ?
या कहोगे—बीत जाने दो न यह भी रात।

कोशिश

कुछ बड़ा अगर हो सकता दिवस परीक्षा का
कुछ कठिन अगर हो सकता मेरे लिए जगत्
मुश्किल है यह—
अब तक तो अपने-आप बीतते आये दिन
मैं ने, सच कहता हूँ, इस में कुछ नहीं किया
यह कहाँ आ गया बस यों ही चलते-चलते
मैं कितनी दूर निकल आया अपने घर से
धुँधला दिखलाई पड़ता है। बाहर-भीतर
कुहरा छाया है, जाड़ों की भारी सन्ध्या-सी यह विस्मृति !

पीछे, पीछे, पीछे अपने हटते जाओ,
ओ हटो, हटो जाने दो
पीछे जाने की दो राह मुझे। मैं लौट रहा हूँ
जैसे बैठे ही बैठे; उठती जाती है देह ऊर्ध्व में; लगता है
कमरे की उजली दीवालें मेरे ऊपर सिमटी आती हैं
दिखती है केवल निब काग़ज़ पर जल्दी-जल्दी चलती।
गत कुछ वर्षों में घुलता जाता तन मेरा
पानी हो कर मैं फैल गया हूँ अपनी पिछली बीती पर।
आता जाता है याद सभी कुछ; एक-एक कर
ठिठक-ठिठक जाते हैं; सम्मुख चित्र विगत के;
कोई तो मेरे ऊपर मुसकाता है
कोई मुझ को ग़ुस्से से घूर देखता है
कुछ मित्र पुराने ऐसे कतरा जाते हैं
जैसे मैं उन से पूछूँगा, बोलो भाई,
यह भी माना, तुम केवल एक निमिष भर थे
लेकिन फिर भी कुछ तो आख़िर कर सकते थे।

क्या ? पश्चात्ताप ? नहीं, यह मेरा ध्येय नहीं
मेरे जीवन की कोई घटना हेय नहीं
कुछ कर न सका इस का भी मुझ को खेद नहीं
लेकिन अब जो करना है उस की चिन्ता है ।
बन नहीं सका मैं खुद ही अपना उदाहरण,
इस लिए कि ताज़ा कर पाऊँ शायद उस को—
पड़ते हैं जैसे फूल चमेली के बासी
निर्गन्ध हुआ जाता है मेरा वर्त्तमान—
इस लिए कि मेरा रूप बड़ा कुछ हो जाये—
बढ़ते-बढ़ते मैं हुआ जा रहा था छोटा—
मैं जुटा रहा हूँ अपनी सब पिछली बातें,
सपने, वादे, निश्चय, भूलें, दिन औ' रातें,
अब शेष नहीं रह गया नया कुछ होने को,
बस इधर पुराने जैसे पड़ते जाते हैं
कोरे काग़ज़ पर तुरत लिखे गीले अक्षर
जो सूख रहे हैं मेरी आँखों के आगे ।

अनिश्चय

जान पड़ता है वह दिन अब आ गया है
आज ही का दिन वह अवसर है
वह देर से आया हुआ अवसर उपयुक्त
वह एक बात कहने का, कोलाहल से भरी सड़कों पर
(एक वह बात) जिसे, सावधान चलते हुए
जगमगाते बाज़ारों में तनिक अपने को देख
कारखाने में झुके करघे पर,
अथवा फीकी छत या गगन में गर्म आँखों को गड़ा
निष्प्रयोजन कभी मुस्का के स्वतः,
किसी की बात सुनी-अनसुनी कर के
कभी अपने नाख़ूनों को यों ही चमकाते हुए
(एक वह बात) जिसे मैं ने याद रखा है।

दुनिया अपनी तिरछी कीली पे घूमती रही है
एक के बाद एक ऊँची-नीची धरती पे उजले दिन
मैली रातें, गयी हैं बीत, लुढ़कती हुई, शोर करती हुई
जैसे रेलगाड़ी के निकल जाने पे तकवाहा किसान
खेत के तीर मड़ैया में तनिक घूम
एक क्षण नैचे की निगाली को बाये हुए मुँह से हटा
उस को देखता है ऐसे
मैं ने देखा है उन्हें, धूप में बैठे-बैठे।
जब कभी पीछे से कन्धे पे हाथ रख के मेरे
चौंका कर मुझ को निमन्त्रण देने आया है अतीत
अपने पुरखों के इस अतीत की धुएँ
जैसी लपकती हुई परछाइयों को

दोनों हाथों से उड़ा कर के, मुँह से फूँक,
सदा रखा है दूर।

जब कभी आगामी बातों का तनिक भास हुआ
पर-पुरुष से जैसे नवयौवन लज्जावती
नयन हटा लेती है जल्दी—
किया है घबरा के ख़ुद अपना निरीक्षण मैं ने
और कभी जब कभी गौरैया-सा मन
घर के आँगन में खेलने का हुआ
मैं ने थामा है उसे कह के बचपना न करो,
बाग़ में धूप खाते-खाते जैसे मैं गरमा कर
उठ के छाया में बरम्दे की चला आया हूँ
अपने में लौट गया था मेरा मन ऐसे ही।

पर इस का अर्थ नहीं मैं सदा निष्क्रिय ही रहा
मैं ने तो चिन्तना की तपश्चर्या में गला डाला हृदय
ताज्जुब, मैं ने सदा सोचा हृदय में, अपने माथे में नहीं
मेरे अंगों ने सोचा, ख़ून ने मेरे सोचा
किन्तु क्यों
जब कभी मेरे विचारों ने बाहर आना चाहा
जैसे सहमा हुआ खरगोश, उठाता है झाड़ियों से
नन्हें सिर को तनिक—
चूके निशाने का देखें धुआँ कम हुआ या नहीं—
ऐसे जब मेरे विचारों ने कुछ समझना चाहा
चलते-चलते जैसे लिखता हो कोई काग़ज़ पर
ऐसे हिले-डुले मेरे अन्दर से वे अक्षर निकले,

लेकिन अब बात बहुत बढ़ गयी है
धीर नहीं,
मेरे प्राणों के पहिए भूमि बहुत नाप चुके
सिनेमा की रीलों-सा कस के लिपटा है सभी कुछ

मेरे अन्दर
कमानी खुलने को भरती है हुमास
लो सुनो, इतना ही कहना है सुनो
तुम से मुझे
किन्तु ठहरो तो, शायद
इस से भी अच्छी कोई बात याद आ जाये।

लापरवाही

पथ ही अनेक हैं अथवा कुछ दिग्भ्रम-सा होता है
मुझ को तो एक ही बतायो थी उस की यह
तुम ने पहचान, छिपा होगी तुम खड़ी वहाँ
मेरी प्रतीक्षा में।
बस, और शेष सब होवेगा निर्जन उस रास्ते पर।
अब मैं गलियारों में चलते हुए गाता नहीं
अतः तुम्हें सम्भवतः मेरा आना है नहीं जान पड़ा
मैं ने भी छोड़ी, लो, अन्तिम मिलने की प्रत्याशा
जब इन में से कश्चित् पथ पर भो नहीं हो तुम
किधर भी चला जाऊँ मैं
इस में तुम्हारा क्या बनता या मेरा बिगड़ता है।

समझौता

प्राण, मत गाओ प्रणय के गान,
पथ लगता अधिक सुनसान,
तेरे गीत गाने से।
दृष्टि जाती है जहाँ तक, राह जाती है वहाँ तक,
और इतना तो मुझे अनुमान ही से ज्ञात—
राह मेरी और भी है दृष्टि के पश्चात्—
अः न छाया कर दुपट्टे से मुझे
अब यह नहीं अवसर करूँ विश्राम,
कम होगा नहीं यह घाम, तेरी प्रीत पाने से।

तुम चलो चुपचाप हो कर
ताकि खा जाओ न ठोकर,
और आँखों को गड़ा दो क्षितिज के भी पार—
क्योंकि बसता है क्षितिज के पार भी संसार—
अः न कर मोहित कनखियों से मुझे,
अब शान्त
सुनने दे चरण की चाप,
पथ घटता स्वयं है आप,
मन पर जीत जाने से।

एकोऽहं बहु स्याम्

मैं, तुम, यह, वह
भ्रम के चारों कोने—
और व्यक्ति की ये सीमाएँ—
कब टूटेंगी ?—
जब तुम होगी मुझ से दूर—
यह भी अपना
वह भी अपना
होगा—
मैं अपने वश में होऊँगा—
तब—
तथास्तु !

मुँहअँधेरे

किसी दिन जाग के संयोग से मैं चिड़ियों के संग,
गर्म बिस्तर से तनिक उठ के
वातायन के बाहर देखता हूँ—
निःस्व है जग, तूफ़ान आने के प्रथम सागर-सा।

रसोईघर से निकलती हुई बिल्लियों की आँखें!
धीरे-धीरे पुतलियाँ उन की सिकुड़ती हैं,
छायाचित्र के एक दृश्य जैसा
चाँद सुबह का, होता जाता है उदास
सूखते फूल में जैसे अन्तिम सौरभ,
पृथ्वी पर मँडराता है ऐसे मन्द पवन।

बज उठती है कहीं पास अलारम की कर्कशा घण्टी।

सुबह के चार बजे, शेष हैं विश्राम के पल,
सोती सड़कों को जगाते हैं नदी-स्नान को जाने वाले,
अस्फुट शब्दों के भजन झूलते हैं चलने के संग,
उषा के शीतल रोमांच के सँग काँपते हैं।
छापेखानों से चल दिया होगा अखबार,
ठेलों की खड़खड़ाहट, दूध वालों के खनकते बरतन
जल्दी चलते हुए चप्पल के हकलाने के से
शब्द, पास आते हैं और दूर चले जाते हैं।
आने दो याद हमें अपने कारखानों की,
दिन शुरू होयेगा जिस पर कि बस किसी का नहीं,
रात को रोक नहीं सकती हैं मीठी नींदें,

होती जाती है जुन्हाई एक कोरा काग़ज़,
स्वच्छ अन्धकार का जल, बैठता जाता है,
धरित्री की शिला,
स्वप्नों से भीगी, उठी आती है ऊपर और ऊपर।

सायंकाल

खिचा चला जाता है दिन का सोने का रथ
ऊँची-नीची भूमि पार कर
अब दिन डूब रहा है जैसे
कोई अपनी बीती बातें भुला रहा हो,
परती पर की दूब घास में अरझ-अरझ कर
उजले-उजले अनबोये खेतों से हो कर
धूप अनमनी-सी वापस लौटी जाती है।

दूर क्षितिज पर महुओं की दीवार खड़ी है
जिस पर चढ़ कर सूरज का शैतान छोकरा
झांक रहा है
चौड़े चिकने पत्तों की ललछौर फुनगियों को सरका कर
नीड़ों में फिर लौटीं मँडराती पिड़कुलियाँ
निकल-निकल जाती हैं उस के चपल करों से
अब छायाएँ दौड़ गयी हैं लम्बी-लम्बी
फैल गया गोरी धरती पर झिझरा-झिझरा
चाँदी के काँटो वाला बांका बबूल
निर्जल मेघों की हलकी छायाओं-जैसा।
है खड़ा हुआ तन कर खजूर
छाया का बोझा फेंक दूर निज मस्तक से
हारों से लौट रहे हैं जन
फैले-फैले मैदानों में बहने वाली
लग रहीं हवाएँ उन के चौड़े सीनों से
उन के कन्धों की लठिया जैसे सोने की
आगे-आगे गोरू जिन की चिकनी पीठों
पर सांझ बिछल कर चमक रही।

लो होता श्रम का समय शेष
अब शीतल जल की चिन्ता में
लगती बहुओं की भीड़ कुएँ पर
मँजी गगरियों पर से किरणें घूम-घूम
छिपती जातीं पनिहारिन के साँवल हाथों की चुड़ियों में
धीरे-धीरे झुकता जाता है शरमाये नयनों-सा दिन
छाया की पलकों के नीचे
लो डूब गया आलोक धवल
अम्बर में सातों रंग छोड़
वे रुके हुए ऊदे मेघों की बाँहों में
है श्याम धरा, रंगीन गगन
हो गयी साँझ, सो रहा सत्य, जग रहे सपन।
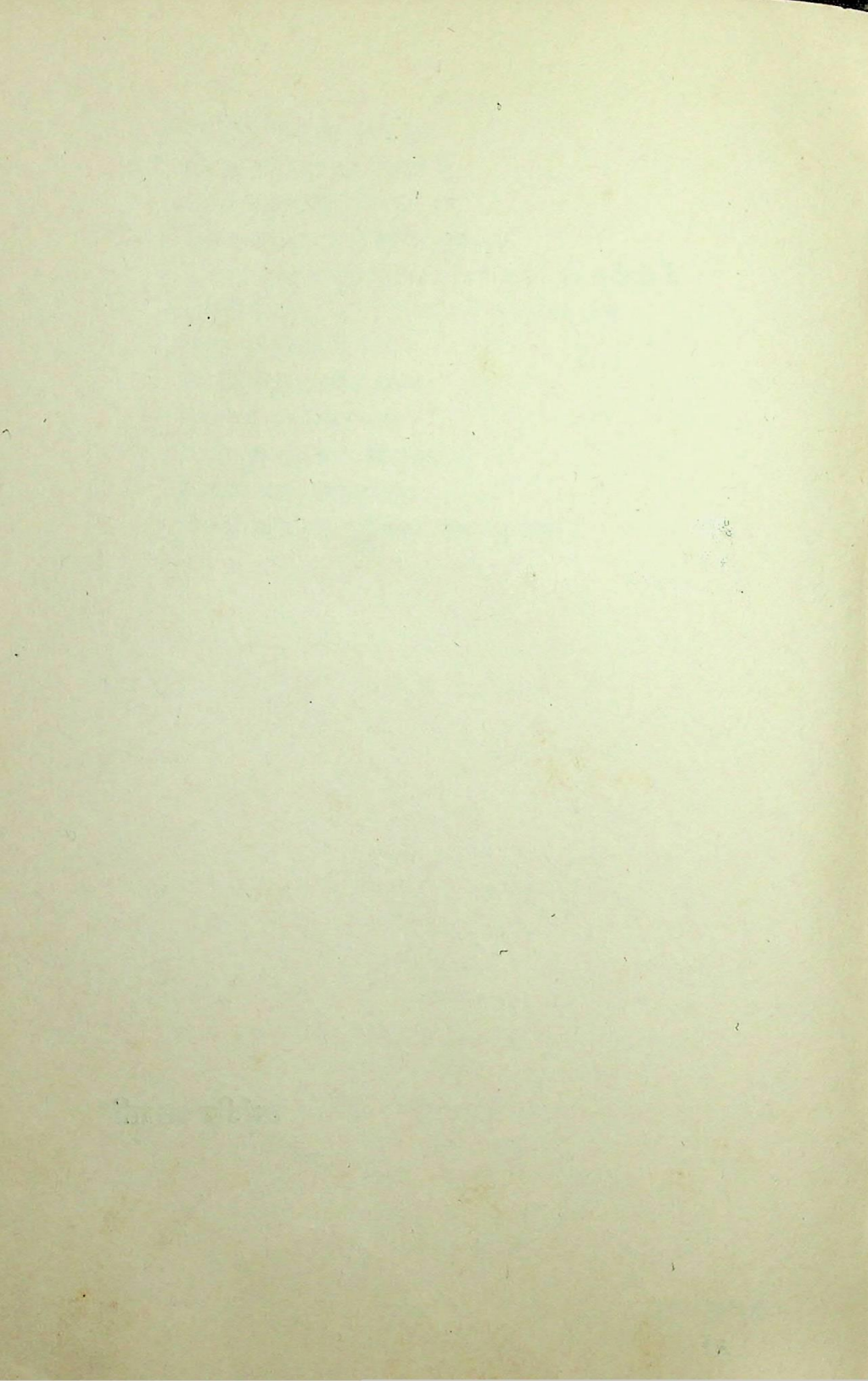
धर्मवीर भारती

धर्मवीर भारती

[धर्मवीर भारती : जन्म दिसम्बर सन् १९२६ में इलाहाबाद में। शिक्षा भी यहीं पायी। सन् '४७ में हिन्दी में एम० ए० किया; इलाहाबाद से ही पी-एच० डी० कर के वहीं विश्वविद्यालय में पढ़ाने लगे।

कॉलेज में थे तब पिता की मृत्यु हो गयी थी। तब से मामा का संरक्षण मिला जिन का प्रोत्साहन अमूल्य वरदान साबित हुआ। इलाहाबाद में ही 'परिमल' नाम की साहित्यिक संस्था के संयोजकों में से एक होने के नाते साहित्यिक हलचलों में भाग लेते रहे, बल्कि हलचल पैदा भी करते रहे। इलाहाबाद में ही विवाह भी हुआ।

सन् '६० से 'धर्मयुग' के सम्पादक हैं और बम्बई रहते हैं।

"लिखना बी० ए० से शुरू किया और छपना तो बहुत लेट।" दो उपन्यास, दो कहानी संग्रह, दो कविता संग्रह और दो गद्य-नाट्य प्रकाशित हो चुके हैं। एक समीक्षा पुस्तक और एक निबन्ध संग्रह भी। विदेशी कविताओं के अनुवाद का एक संकलन भी छपा है।

"दो चीज़ों की बेहद प्यास है। एक तो नयी-नयी किताबों की, और दूसरे अज्ञात दिशाओं को जाती हुई लम्बी, निर्जन, छायादार सड़कों की। सुविधा मिले तो ज़िन्दगी-भर धरती की परिक्रमा देता जाऊँ। मुक्त हँसी, ताजे फूल और देश-विदेश के लोकगीत बहुत पसन्द हैं।"

सब से प्रिय कविताएँ वे हैं जो गटर में पड़े शराबियों, हथौड़ा चलाते लोहारों और धूल में खेलते हुए बच्चों की भोली आँखों में झलकती हैं, लेकिन जिन्हें न अभी किसी ने लिखा, न किसी ने छापा।

लापरवाही नस-नस में भरी है, जिस से अपना नुक़सान तो कर ही लेता हूँ, दूसरों की नाराज़ी को भी न्योता देता फिरता हूँ। हूँ धुनी, धुन में आने की बात है। हौसले तो पहाड़ों को उलट देने के हैं।"]

वक्तव्य

●

इस के पहले कि भारती आप को अपनी कविता का परिचय दे, अच्छा होगा कि आप उस की कविता को ही उस के बारे में कुछ कहने का अवसर दें क्यों कि अकसर आदमी अपने अत्यन्त निकटवर्ती, अत्यन्त प्रिय लोगों के मूल्यांकन में काफ़ी ग़लती कर जाता है; वही ग़लती भारती अपनी कविता के बारे में भी कर सकता है जिसे वह काफ़ी प्यार करता है।

सच तो यह है कि भारती की कविता उस से क़तई सन्तुष्ट नहीं है। इस लिए यदि आप कुछ पूछेंगे तो कविता बहुत नाराज़ हो कर, भौंहें सिकोड़ कर, मान भरे स्वरों में कहेगी, "न जाने किस ने कहा था इन से कविता लिखने को ? कभी छठे-छमासे, फ़ुरसत पायी तो याद कर लिया, मुँह पर मीठी-मीठी बातें कर लीं; फिर जैसे के तैसे। न कभी नाराज़ हो कर हमें तोड़ा-मरोड़ा, न कभी रीझ कर सजाया-सँवारा। ऐसा भी क्या ? कैसे के पाले पड़ी हूँ, मेरा तो नसीब फूट गया।" और उस के बाद कविता भारती की ओर गहरी शिकायत की निगाह से देख कर आँसू भर लायेगी।

कविता की शिकायत उचित है, लेकिन भारती इस विषय में दूसरी ही बात कहता है जिसे आप सुन तो लें ही, मानें-न मानें आप की मरज़ी। भारती का कहना है कि आज तक जिसे उस ने तहेदिल से प्यार किया है उस के चरणों में अपने व्यक्तित्व को इतनी सरलता से और इतनी गहन पूजा-भावना से सम्पूर्णतया समर्पित कर दिया कि कहीं से कोई कसाव या दुराव नहीं रह गया। लेकिन वह समर्पण अपनी अत्यधिक सरलता में ही कुछ इतना विलक्षण और असाधारण हो गया कि स्नेहपात्र उस के समर्पण को पहचान तो गया किन्तु पूर्णतया ग्रहण नहीं कर पाया। कुछ ऐसा ही साँसों की तरह स्वाभाविक (और साँसों को भला कौन बाँध पाया है आज तक ?) समर्पण कविता के प्रति भी रहा, पर भारती को कुछ ऐसा लगा कि कविता ने भी उस के व्यक्तित्व को पूर्णतया ग्रहण नहीं किया, हालाँ कि भारती को इस की शिकायत नहीं, शिकवे-शिकायत की भारती की आदत भी नहीं।

यों भारती को साहित्य के हर रूप में दिलचस्पी है और हर तरह की चीज़ वह लिखता है, यहाँ तक कि एक दर्ज़ी दोस्त की दूकान का उद्घाटन था और उस के प्रवल आग्रह से भारती को उस के लिए एक अत्यन्त कलात्मक विज्ञापन का नोटिस भी लिखना पड़ा था। लेकिन असल में भारती का मन कविता में ही रमता है, क्यों कि कविता के-से माध्यम से ही भारती आज की बेहद पिसती हुई संघर्षपूर्ण, कटु और कीचड़ में बिलबिलाती हुई ज़िन्दगी के भी सुन्दरतम अर्थ खोज पाने में समर्थ रहा है। कविता ने उसे अत्यधिक पीड़ा के क्षणों में विश्वास और दृढ़ता दी है। कविता भारती के लिए शान्ति की छाया और विश्वास की आवाज़ रही है।

बचपन में जब से उस ने अँगरेज़ी सीखी तभी से वह समुद्री कविताओं, साहसी नाविकों और समुद्री लुटेरों की कहानियों के पीछे पागल रहता था। उसे कुछ ऐसी सुन्दर सचित्र पुस्तकें इनाम में मिली थीं। वह अकसर किसी निर्जन गुलाबी द्वीप, शिलाओं से बँधी किसी बन्दिनी उदासिनी जल-परी की कल्पना किया करता था जिसे वह तलवारों से ज़ंजीरें काट कर आज़ाद कर देगा, फिर फैली-फैली मखमली बालू पर दोनों रंग-बिरंगी सीपियों और मूँगे-मोतियों से खेलेंगे, साथ-साथ ज़िन्दगी-भर।

भारती के कवि पर उस किशोर कल्पना का काफ़ी प्रभाव पड़ा, अचेतन रूप से। जब उस की चेतना ने पंख पसारे तब छायावाद का बोलबाला था। उसे लगा कि कविता की शहज़ादी इन अपार्थिव कल्पनाओं, टेढ़े-मेढ़े शब्द-जालों, अस्पष्ट रूपकों और उलझे हुए जीवन-दर्शन की शिलाओं से बँधी उदास जल-परी की तरह क़ैद है और भारती को चाहिए कि वह उसे उन्मुक्त कर सर्वथा मानवीय धरातल पर उतार लाये ताकि वह फैली-फैली चाँदी की बालू पर आदम की सन्तानों के साथ बेहिचक आँखमिचौनी खेल सके, उन के सीधे-सादे सुख-दुःख, वासनाओं-कामनाओं को समझ सके, उन्हीं की बोली में बोल सके। इस लिए भारती ने सब से पहले लिखे सरलतम भाषामें रंग-बिरंगी चित्रात्मकता से समन्वित साहसपूर्ण उन्मुक्त रूपोपासना और उद्दाम यौवन के सर्वथा मांसल गीत, जो न तो मन की प्यास को झुठलायें और न उस के प्रति कोई कुण्ठा प्रकट करें। जो सीधे ढंग से पूरी ताक़त से अपनी बात आगे रखें। आदमी की सरल और सशक्त अनुभूतियों के साथ-साथ निडर खेल सकें, बोल सकें।

यों कविता में भारती के पास तूलिका है और वह तारों से रोशनी और फूलों से रंग चुरा कर बात-बात पर चित्र बनाती चलती है। शायद उस की

कविता-शैली पिछले जन्म में मिस्र देश की राजकुमारी रही होगी, जिन की लिपि का हर अक्षर ही एक सर्वांग-सम्पूर्ण चित्र होता था। लेकिन भारती को इस बात का ध्यान रहता है कि उस के चित्र आपस में उलझने न पायें और कुल मिला कर अपनी बात को पूरे प्रभाव के साथ रखें।

'पूरे प्रभाव के साथ' इस वाक्यांश को याद रखिए। क्यों कि भारती अकसर यह सोचा करता है कि कविता का मुख्य कार्य आज के युग में रूढ़ अर्थों में रसोद्रेक-मात्र न रह कर 'प्रभाव डालना' हो गया है। बहुत-सी कविताएँ भारती को बहुत अच्छी लगती हैं, जिन में परम्परागत रस-तत्त्व कम रहता है पर वे प्रभावित बहुत करती हैं। उन का प्रभाव स्थायी रहता है। उन के प्रभाव की परिधि में भाव और ज्ञान दोनों ही आ जाते हैं; बल्कि कभी-कभी तो भाव और ज्ञान ही नहीं, अभाव और अज्ञान भी उन की परिधि में आ जाते हैं। इस संक्रान्ति काल में मानव की सदियों पुरानी मान्यताएँ बहुत तेज़ी के साथ ढहती चली जा रही हैं, उन की चेतना के आगे नये-नये क्षितिज हर साल खुलते जा रहे हैं। उस के मन की अनगिनत परतें एक के बाद एक उधड़ती चली जा रही हैं, और ज़िन्दगी के झंझावात हर क्षण उसे ऐसी-ऐसी परिस्थितियों और अनुभूतियों में उलझाते चले जा रहे हैं जो सर्वथा नयी हैं, जो आज तक के संचित मानव ज्ञान और संवेदना के परे हैं। ऐसी अवस्था में जब कवि जीवन का आस्वादन करता है तो उसे ऐसे कितने ही स्पन्दन-संवेदन मिल जाते हैं जिन के लिए उसे एक नयी अभिव्यंजना की खोज करनी पड़ती है, नया काव्य-रूप ढूँढ़ना पड़ता है। इस लिए अब कविता की कसौटी भी इतनी व्यापक बनानी होगी कि वह इन सभी अति नवीन अनुभूतियों को अपनी बाँहों में घेरती हुई मानव की चिर आदिम प्रवृत्तियों का मर्म भी छू सके। इसी लिए आज की आधुनिकतम कविता के सही-सही मूल्यांकन के लिए एक युग पुराना रस-सिद्धान्त बहुत नाकाफ़ी मालूम देता है। उस में नये अध्याय जोड़ने होंगे। वैसे भी हर युग में नये रसों की अवतारणा हुई है—वैष्णवों ने भक्ति-रस जोड़ा, वल्लभ और सूर ने वात्सल्य के रस की संज्ञा दी, पाश्चात्त्य डिकैडेण्टों ने कटु और तिक्त के बीच के एक विचित्र रस की अवतारणा की। इस से स्पष्ट है कि मानव चेतना के विकास के साथ-साथ रसों में भी विकास और वृद्धि होती गयी है। आज की कविता में, रूढ़ रसों के अलावा जो भी नये तत्त्व आ रहे हैं (चाहे उन पर आज कितना ही विवाद क्यों न हो!) उन में से जो तत्त्व भी स्थायी रहेंगे, उन्हें कल के काव्य-शास्त्र का आचार्य स्वीकार करेगा और उन के वज़न पर काव्यशास्त्र और रस-सिद्धान्त का पुनः मूल्यांकन करेगा। इसी लिए जब कभी

भारती परम्परा तोड़ कर कोई नयी चीज़ लिखता है तो उसे इस बात का उल्लास होता है कि वह आने वाली पीढ़ी के ज्ञान-संचय के लिए, नये आकलन के लिए एक नयी आधार-भूमि के गठन में अपना भी छोटा-सा देय सम्मिलित कर रहा है।

लेकिन फिर भी भारती केवल परम्परा तोड़ने मात्र के लिए परम्परा नहीं तोड़ता और न प्रयोग मात्र के लिए प्रयोग करता है। जब ज़िन्दगी अनुभूति और विश्वास का तक़ाज़ा इतना तीखा हो जाता है कि वह बेचैन हो उठता है, तभी वह ऐसी कोई चीज़ लिखता है और अगर उसे पता चलता है कि ऐसी चीज़ में 'हुंकार' नहीं है, तो वह उसे फाड़ कर फेंक देता है। एक स्वस्थ आत्म-विश्लेषण कम से कम अभी तक तो भारती में है, आगे देखा जायेगा।

भाषा के प्रश्न को कभी भारती ने अधिक महत्त्व नहीं दिया। भाषा भाव की पूर्ण अनुगामिनी रहनी चाहिए, बस। न तो पत्थर का ढोंका बन कर कविता के गले में लटक जाये और न रेशम का जाल बन कर उस की पाँखों में उलझ जाये।

जहाँ तक राजनीति का प्रश्न है, भारती वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को कभी अंशतया ही स्वीकृत कर पाया है; कहाँ किस अंश तक यह प्रसंगान्तर की बातें हैं। सीधी-सादी बात यह है कि भारती कविता में किसी भी विषय को उठाये बिना नहीं रह पाता, बशर्ते वह जीवन और अनुभूति की आन्तरिक लय से मेल खाता हो। लेकिन ऊपर से कुछ भी थोपना-लादना भारती प्रतिभा की पराजय मानता है और साहित्य की राजनीतिक गुलामी को तो सरासर फ़ासिज़्म। दलगत राजनीति और अवसरवादी कलाबाज़ियों को भारती बाज़ारूपन समझता है और हिकारत की निगाह से देखता है।

हाँ यह ज़रूर है कि जिस नये आन्दोलन और नयी विचारधारा में मानवता की मुक्ति का क्षीण से क्षीण आलोक-कण है, सच्चे, स्वस्थ और ईमानदार कलाकार की आत्मा उसे ग्रहण किये बिना चैन ही नहीं पाती ऐसा उस का दृढ़ विश्वास है।

भारती कविताएँ कम लिखता है, लेकिन जब लिखता है तो अपनी रुचि की और अपने ईमान की।

■

थके हुए कलाकार से

सृजन की थकन भूल जा देवता !
अभी तो पड़ी है धरा अधबनी,
अभी तो पलक में नहीं खिल सकी
नवल कल्पना की मधुर चाँदनी
अभी अधखिली ज्योत्स्ना की कली
नहीं जिन्दगी की सुरभि में सनी—
अभी तो पड़ी है धरा अधबनी,
अधूरी धरा पर नहीं है कहीं
अभी स्वर्ग की नींव का भी पता !
सृजन की थकन भूल जा देवता !

रुका तू गया रुक जगत् का सृजन
तिमिरमय नयन में डगर भूल कर
कहीं खो गयी रोशनी की किरन
बादलों में कहीं सो गया
नयी सृष्टि का सप्तरंगी सपन
रुका तू गया रुक जगत् का सृजन
अधूरे सृजन से निराशा भला
किस लिए; जब अधूरी स्वयं पूर्णता
सृजन की थकन भूल जा देवता !

प्रलय से निराशा तुझे हो गयी
सिसकती हुई साँस की जालियों में
सबल प्राण की अर्चना खो गयी
थके बाहुओं में अधूरी प्रलय
औ' अधूरी सृजन योजना खो गयी

प्रलय से निराशा तुझे हो गयी
इसी ध्वंस में मूर्च्छिता हो कहीं
पड़ी हो, नयी ज़िन्दगी; क्या पता ?
सृजन की थकन भूल जा देवता !

कवि और कल्पना

कल्पने उदासिनी—
न मेघदूत वेश में
किसी सुदूर देश में
किसी निराश यक्ष का प्रणय-सँदेश ला रही
न आज स्वप्न में सने
मृणाल तन्तु से बने
किसी असीम सत्य के रहस्य गीत गा रही
आज तक उदास यों कभी दिखी न रूप-सी
सफ़ेद बर्फ़ पर बिछी मलीन खिन्न धूप-सी ।

गीत खो गये कहाँ
छन्द सो गये कहाँ
कहाँ गये सँगीत के सजीव स्वर सुभाषिनी ?
कल्पने उदासिनी ।

कल्पना उदासिनी
ने मलीन छोर से
उदास नेत्र कोर से
अश्रु बूँद पोंछ कर कहा कि मैं ग़ुलाम हूँ
स्वतन्त्र रश्मि पर पली
स्वतन्त्र वायु में चली
मगर सदा यही दरद रहा कि मैं ग़ुलाम हूँ
ग़ुलाम कल्पना कभी न जोत बन निखर सकी
न प्यास की पुकार पर ओस बन उतर सकी ।

देखती रही हताश कल्पना उदासिनी
जवान फूल झर गये ।
जवान गीत मर गये ।

गुलाम देश में मगर
किसी जवान लाश पर
निरीह शोक का कफ़न तानना गुनाह है
अश्रु-हास भी मना
भूख-प्यास भी मना
यहाँ मनुष्य को मनुष्य मानना गुनाह है !
यहाँ सदा बँधी रही कल्पना हताशिनी !
बन्दिनी निराशिनी !

कल्पने निराशिनी
मगर सुनो नवीन स्वर
सुनो-सुनो नवीन स्वर
विशाल वक्ष ठोंक कर
सुदूर भूमि से तुम्हें जवान कवि पुकारता
लौट बन्धन तोड़ कर
बेड़ियाँ झँझोड़ कर
नवीन राष्ट्र को नवीन कल्पना सँवारता
स्वतन्त्र क्रान्ति ज्वाल में निडर बनो सुकेशिनी
विनाश की सजीव नग्नता ढँको सुतेशिनी
विनाश से डरो नहीं
विकास से डरो नहीं
सृष्टि के लिए बनो प्रथम विनाश स्वामिनी—
कल्पने विलासिनी !

गुनाह का गीत

इन फ़ीरोज़ी होठों पर बरबाद
मेरी ज़िन्दगी !

गुलाबी पाँखुरी पर एक हलकी सुरमई आभा
कि ज्यों करवट बदल लेती कभी बरसात की दुपहर !
इन फ़ीरोज़ी होठों पर !

तुम्हारे स्पर्श की बादल-घुली कचनार नरमाई !
तुम्हारे वक्ष की जादूभरी मदहोश गरमाई !
तुम्हारी चितवनों में नरगिसों की पात शरमायी !
किसी भी मोल पर मैं आज अपने को लुटा सकता
सिखाने को कहा मुझ से प्रणय के देवताओं ने
तुम्हें, आदिम गुनाहों का अजब-सा इन्द्रधनुषी स्वाद !
मेरी ज़िन्दगी बरबाद !
इन फ़ीरोज़ी होठों पर मेरी ज़िन्दगी बरबाद !

मृनालों-सी मुलायम बाँह ने सीखी नहीं उलझन,
सुहागन लाज में लिपटा शरद की धूप-जैसा तन,
अँधेरी रात में खिलते हुए बेले सरीखा मन !
पँखुरियों पर भँवर के गीत-सा मन टूटता जाता
मुझे तो वासना का विष हमेशा बन गया अमृत
बशर्ते वासना भी हो तुम्हारे रूप से आबाद !
मेरी ज़िन्दगी बरबाद !
इन फ़ीरोज़ी होठों पर मेरी ज़िन्दगी बरबाद !

गुनाहों से कभी मैली हुई बेदाग़ तरुनाई ?
सितारों की जलन से बादलों पर आँच कब आयी ?

न चन्दा को कभी व्यापी अमा की घोर कजराई !
बड़ा मासूम होता है गुनाहों का समर्पन भी !
हमेशा आदमी मजबूर हो कर लौट आता है
जहाँ, हर मुक्ति के, हर त्याग के, हर साधना के बाद !
मेरी ज़िन्दगी बरबाद,

इन फ़ीरोज़ी होठों पर मेरी ज़िन्दगी बरबाद !

गुनाह का दूसरा गीत

अगर मैं ने किसी के होठ के पाटल कभी चूमे
अगर मैं ने किसी के नैन के बादल कभी चूमे
महज़ इस से किसी का प्यार मुझ पर पाप कैसे हो!
महज़ इस से किसी का स्वर्ग मुझ पर शाप कैसे हो!

तुम्हारा मन अगर सींचूँ
गुलाबी तन अगर सींचूँ
तरल मलयज झकोरों से,
तुम्हारा चित्र खींचूँ प्यास के रंगीन डोरों से,
कली-सा तन, किरन-सा मन
शिथिल सतरंगिया आँचल
उसी में खिल पड़ें यदि भूल से कुछ होठ के पाटल
किसी के होठ पर झुक जायँ कच्चे नैन के बादल
महज़ इस से किसी का प्यार मुझ पर पाप कैसे हो ?
महज़ इस से किसी का स्वर्ग मुझ पर शाप कैसे हो ?

किसी की गोद में सिर धर
घटा घनघोर बिखरा कर
अगर विश्वास सो जाये,
धड़कते वक्ष पर मेरा अगर व्यक्तित्व खो जाये,
न हो यह वासना
तो जिन्दगी की माप कैसे हो ?
किसी के रूप का सम्मान मुझ को पाप कैसे हो ?
नसों का रेशमी तूफ़ान मुझ को पाप कैसे हो ?
अगर मैं ने किसी के होठ के पाटल कभी चूमे!
अगर मैं ने किसी के नैन के बादल कभी चूमे!
किसी की साँस में चुन दूँ
किसी के होठ पर बुन दूँ

अगर अंगूर की परतें,
प्रणय में निभ नहीं पातीं कभी इस तौर की शरतें
यहाँ तो हर क़दम पर
स्वर्ग की पगडण्डियाँ घूमीं
अगर : मैं ने किसी की मदभरी अँगड़ाइयाँ चूमीं
अगर; मैं ने किसी की साँस की पुरवाइयाँ चूमीं
महज़ इस से किसी का प्यार मुझ पर पाप कैसे हो !
महज़ इस से किसी का स्वर्ग मुझ पर शाप कैसे हो !

तुम्हारे पाँव मेरी गोद में !

ये शरद के चाँद से उजले धुले-से पाँव,
मेरी गोद में !
ये लहर पर नाचते ताज़े कमल की छाँव,
मेरी गोद में !
दो बड़े मासूम बादल, देवताओं से लगाते दाँव,
मेरी गोद में !

रसमसाती धूप का ढलता पहर,
ये हवाएँ शाम की
झुक झूम कर बिखरा गयीं
रोशनी के फूल हरसिंगार से
प्यार घायल साँप-सा लेता लहर,
अर्चना की धूप-सी
तुम गोद में लहरा गयीं,
ज्यों झरे केसर
तितलियों के परों की मार से,

सोन-जूही की पँखुरियों पर पले ये दो मदन के बान
मेरी गोद में !
हो गये बेहोश दो नाज़ुक मृदुल तूफ़ान
मेरी गोद में !

ज्यों प्रणय की लोरियों की बाँह में
झिलमिला कर,
औ जला कर तन, शमाएँ दो
अब शलभ की गोद में आराम से सोयी हुई,
या फ़रिश्तों के परों की छाँह में

दुबकी हुई, सहमी हुई
हों पूर्णिमाएँ दो
देवता के अश्रु से धोयी हुई
चुम्बनों की पाँखुरी के दो जवान गुलाब
मेरी गोद में !

सात रंगों की महावर से रचे महताब
मेरी गोद में !

ये बड़े सुकुमार,
इन से प्यार क्या ?
ये महज़ आराधना के वास्ते
जिस तरह भटकी सुबह को रास्ते
हरदम बताये शुक्र के नभ फूल ने
ये चरण मुझ को न दें
अपनी दिशाएँ भूलने ।
ये खँडहरों में सिसकते, स्वर्ग के दो गान
मेरी गोद में !

रश्मि-पंखों पर अभी उतरे हुए वरदान
मेरी गोद में !

उदास तुम

तुम कितनी सुन्दर लगती हो, जब तुम हो जाती हो उदास !
ज्यों किसी गुलाबी दुनिया में, सूने खँडहर के आसपास
मदभरी चाँदनी जगती हो !

मुँह पर ढँक लेती हो आँचल,
ज्यों डूब रहे रवि पर बादल।

या दिन-भर उड़ कर थकी किरन,
सो जाती हो पाँखें समेट, आँचल में अलस उदासी बन ;
दो भले-भटके सान्ध्य विहग
पुतली में कर लेते निवास।
तुम कितनी सुन्दर लगती हो, जब तुम हो जाती हो उदास !

खारे आँसू से धुले गाल,
रूखे हलके अधखुले बाल,

बालों में अजब सुनहरापन,
झरती ज्यों रेशम की किरनें संझा की बदरी से छन-छन,
मिसरी के होठों पर सूखी,
किन अरमानों की विकल प्यास !
तुम कितनी सुन्दर लगती हो, जब तुम हो जाती हो उदास !

भँवरों की पाँतें उतर - उतर
कानों में झुक कर गुन-गुन कर,

हैं पूछ रहीं क्या बात सखी ?
उन्मन पलकों की कोरों में क्यों दबी-ढँकी बरसात सखी ?

चम्पई वक्ष को छू कर क्यों
उड़ जाती केसर की उसाँस !
तुम कितनी सुन्दर लगती हो, जब तुम हो जाती हो उदास !

सुभाष की मृत्यु पर

दूर देश में किसी विदेशी गगन खण्ड के नीचे
सोये होगे तुम किरनों के तारों की शय्या पर
मानवता के तरुण रक्त से लिखा सँदेशा पा कर
मृत्यु देवताओं ने होंगे प्राण तुम्हारे खींचे,

प्राण तुम्हारे धूमकेतु से चीर गगन पट झीना
जिस दिन पहुँचे होंगे देवलोक की सीमाओं पर
अमर हो गयी होगी आसन से मौत मूर्छिता हो कर
और फट गया होगा ईश्वर के मरघट का सीना

और देवताओं ने ले कर ध्रुव तारों की टेक—
छिड़के होंगे तुम पर तरुनाई के खूनी फूल
खुद ईश्वर ने चीर अँगूठा अपनी सत्ता भूल
उठ कर स्वयं किया होगा विद्रोही का अभिषेक

किन्तु स्वर्ग से असन्तुष्ट तुम, यह स्वागत का शोर
धीमे-धीमे जब कि पड़ गया होगा बिलकुल शान्त
और रह गया होगा जब वह स्वर्ग देश
खोल कफ़न ताका होगा तुम ने भारत का भोर !

एक फ़ैण्टेसी

साँझ के झुटपुटे में,
जब कि दूर आस्माँ पर एक धुआँ-सा छा रहा था,
तारे अकुला रहे थे, चाँद थर्रा रहा था।
चोट इतनी गहरी थी,
कि बादलों के सीने से ख़ून उबला आ रहा था,
पास की पगडण्डी से
एक राही कन्धों पर
अपनी ही लाश लादे धीमे-धीमे जा रहा था
गीतों के कंकाल झूठे प्यार के मसान में,
धधकती चिताओं के पास बैठे गा रहे थे,
अपने सूखे हाथों से,
अपनी पसलियों को तोड़-तोड़
चूर-चूर कर चिताओं पर बिखरा रहे थे !
एक जलते मुरदे ने
अपनी जलती उँगलियों से
ऊँची-नीची बालू पर इक खींच दी लकीर !
और हँस कर बोला
"यह है प्यार की तसवीर !"

बरसाती झोंका

चूमता आषाढ़ की पहली घटाओं को,
झूमता आता मलय का एक झोंका सर्द;
छेड़ता मन की मुँदी मासूम कलियों को
और ख़ुशबू-सा बिखर जाता हृदय का दर्द !

यह दर्द

ईश्वर न करे तुम कभी ये दर्द सहो !
दर्द, हाँ अगर चाहो तो इसे दर्द कहो;
मगर ये और भी बेदर्द सज़ा है ऐ दोस्त !
कि हाड़-हाड़ चिटख जाय मगर दर्द न हो !

चुम्बन

रख दिये तुम ने नज़र में बादलों को साध कर,
आज माथे पर, सरल संगीत से निर्मित अधर;
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छाँह में
बाँसुरी रखी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर !

जाड़े की शाम

जाड़े की हलकी बासन्ती दोपहरी ने
ज़रतार धूप की चुनरी में मुँह छिपा लिया,
हलके नीले नभ की, उदास गहराई में
तैरती हुई
चीलें भी थक कर हाँफ गयीं !
पीपल के पत्तों में दिन-भर लुकते-छिपते
ये खुश्क झकोरे मुँह लटका कर बैठ गये,
उस दूर क्षितिज की छाती पर
छाले-सा
सहसा
एक सितारा फूट गया;
इस दुनिया पर
थक कर आँधी बेहोश हुई इस दुनिया पर
कोहरे की पाँखें फैलाती
मँडराती
यम की चिड़िया-सी
धीमे-धीमे
उतरी आती
यह जाड़े की मनहूस शाम !

हर घर में सिर्फ़ चिराग़ नहीं, चूल्हे सुलगे
लेकिन फिर भी
जाने कैसा सुनसान अँधेरा
रह-रह कर धुँधुआता है,
छप्पर से छनता हुआ धुँआ
हर ओर

हवा की परतों पर छा जाता है;
बढ़ जाती है तकलीफ़ साँस तक लेने में !
हर घर में मचता हंगामा।

दफ़्तर के थके हुए क्लर्कों की डाँट-डपट
बच्चों की चीख़-पुकारें
पत्नी की भुनभुन,
लेकिन फिर भी इस शोरोग़ुल के बावजूद
इतना सन्नाटा, इतनी मुरदा ख़ामोशी
जसे घर में हो गयी मौत पर लाश अभी तक रखी ह। ।

मैं बैठा हूँ
यह शाम मुझे अपनी मुरदार उँगलियों से छू लेती है
माथा छूती
लगता जैसे प्रतिभा ने भी दम तोड़ दिया;
मस्तक इतना ख़ाली-ख़ाली
लगता जैसे
हो कोई सड़ा हुआ नरियल,
छूती है होठ
कि लगता ज्यों
वाणी इतनी खोखली हुई
ज्यों बच्चों की गिलबिल-गिलबिल,
सब अर्थ और उत्साह छिन गया जीवन का,
जैसे जीने के पीछे कोई लक्ष्य नहीं,
दिल की धड़कन भी इतना बेमानी,
जितनी
वह टिक-टिक करती हुई घड़ी
जिस की दोनों की दोनों सुइयाँ टूटी हों !
मैं अकुला उठता
और सोचता घबरा कर

यह क्या अकसर मुझ को हो जाया करता है ?
प्रतिभा की वह बदमस्त जवानी कहाँ गयी ?

जिस दिन ये तुम ने फूल बिखेरे माथे पर
अपने तुलसी दल-जैसे पावन होठों से;
मैं महज़ तुम्हारे गर्म वक्ष में शीश छुपा,
चिड़िया के सहमे बच्चे-सा
हो गया मूक,
लेकिन उस दिन मेरी अलबेली वाणी में
थे बोल उठे,
गीता के मंजुल श्लोक, ऋचाएँ वेदों की !

क्यों आज नहीं
मेरी हर धड़कन में
उतना ही गहरा अर्थ छिपा रहता ?
क्यों आज नहीं
मेरी हर धड़कन में
उतना ही गहरा दर्द छिपा रहता ?

जिस दिन तुम ने मेरी साँसों को चूमा, ये
भगवान राम के मन्त्रवाण-सी
सात सितारों से जा कर टकरायी थी;
पर आज पर-कटे तीरों-सी मेरी साँसें,
हर क़दम-क़दम पर लक्ष्यभ्रष्ट हो जाती हैं !
कुछ इतना थका पराजित-सा लगता हूँ मैं !

मैं सोच रहा,
यदि आज तुम्हारा साया होता जीवन पर
थी क्या मजाल
यह शाम मुझे इस तरह बना देती मुरदा !
इस तरह तुम्हारी पूजा का पावन प्रदीप

इस तरह तुम्हारी क्वारी साँसों का अर्चन
कुम्हलाती हुई धूप के संग कुम्हला जाता !

लेकिन फिर भी मजबूरी है
तुम दूर कहीं, खाली-खाली भारी मन से,
धुप-धुप करती-सी ढिबरी के नीचे बैठी
कुछ घर का काम-काज धन्धा करती होगी,
यह शाम मुझे इस तरह निगलती जाती है !
कोहरे की पाँखें फैलाती, नर-भक्षिणि
यम की चिड़िया-सी
यह जाड़े की मनहूस शाम मँडराती है !

कविता की मौत

लाद कर ये आज किस का शव चले
और उस छतनार बरगद के तले
किस अभागिन का जनाज़ा है रुका
बैठ इस के पाँयतें गरदन झुका
कौन कहता है कि कविता मर गयी ?
मर गयी कविता नहीं तुम ने सुना ?
हाँ वही कविता, कि जिस की आग से
सूरज बना
धरती जमी
बरसात लहरायी
और जिस की गोद में बेहोश पुरवाई
पँखुरियों पर जमी,
वही कविता,
विष्णुपद से जो निकल
और ब्रह्मा के कमण्डल से उबल
बादलों की तहों को झकझोरती
चाँदनी के रजतफूल बटोरती
शम्भु के कैलाश पर्वत को हिला
उतर आयी आदमी की ज़मीं पर
चल पड़ी फिर मुसकराती
शस्य श्यामल फूल-फ़ल फ़सलें खिलाती
स्वर्ग से पाताल तक जो एक धारा बन बही
पर न आखिर एक दिन वह भी रही
मर गयी कविता वहीं
एक तुलसी पत्र औ' दो बूँद गंगा-जल बिना
मर गयी कविता नहीं तुम ने सुना ?

भूख ने उस की जवानी तोड़ दी
उस अभागिन की अछूती माँग का सिन्दूर
मर गया बन कर तपेदिक का मरीज़
और सितारों से कहीं मासूम सन्तानें
माँगने को भीख हैं मजबूर !
या पटरियों के किनारे से उठा
बेचती हैं अधजले
कोयले।
याद आती है मुझे
भागवत की वह बड़ी मशहूर बात
जब कि ब्रज की एक गोपी
बेचने को दही निकली
औ' कन्हैया की रसीली याद में
बिसर कर सब सुध
बन गयी थी ख़ुद दही;
और ये मासूम-बच्चे भी
बेचने को कोयला निकले
बन गये ख़ुद कोयले !
श्याम की माया !
और अब वे कोयले भी हैं अनाथ
क्योंकि उन का भी सहारा चल बसा
भूख ने उस की जवानी तोड़ दी
यों बड़ी ही नेक थी कविता
मगर धनहीन थी, कमज़ोर थी;
और बेचारी ग़रीबन मर गयी।
मर गयी कविता ?
जवानी मर गयी
मर गया सूरज सितारे मर गये
मर गये सौन्दर्य सारे मर गये
सृष्टि के आरम्भ से चलती हुई
प्यार की हर साँस पर पलती हुई
आदमीयत की कहानी मर गयी।

झूठ है यह
आदमी इतना नहीं कमजोर है
पलक के जल और माथे के पसीने से
सींचता आया सदा जो स्वर्ग की भी नींव
ये परिस्थितियाँ बना देंगी उसे निर्जीव ?
झूठ है यह
फिर उठेगा आदमी
और सूरज को मिलेगी रोशनी
सितारों को जगमगाहट मिलेगी
कफ़न में लिपटे हुए सौन्दर्य को
फिर किरन की नरम आहट मिलेगी
फिर उठेगा वह
और बिखरे हुए सारे स्वर समेट
पोंछ उन से ख़ून
फिर बुनेगा नयी कविता का वितान
नये मनु के नये युग का जगमगाता गान
भूख, लाचारी, ग़रीबी हो, मगर
आदमी के सृजन की ताक़त
इन सबों की शक्ति के ऊपर;
और कविता सृजन की आवाज़ है
फिर उभर कर कहेगी कविता
"क्या हुआ दुनिया अगर मरघट बनी
अभी मेरी आख़िरी आवाज़ बाक़ी है
हो चुकी हैवानियत की इन्तेहा
आदमियत का अभी आगाज़ बाक़ी है
लो तुम्हें मैं फिर नया विश्वास देती हूँ
नया इतिहास देती हूँ,
कौन कहता है कि कविता मर गयी ?"

■ ■

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक-हितकारी
मौलिक साहित्य का निर्माण

■

■

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५